UNIVERSAL
LIBRARY

OU_182002

UNIVERSAL
LIBRARY

OUP -23 -4-4-69—5,000.

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H81 S475 Accession No. P. G. H2301

Author सेंगर, राजेन्द्रदेव.

Title सारन्धा. 1956.

This book should be returned on or before the date last marked below.

सारन्धा

(करुणान्त वीर-काव्य)

कृतिकार—
श्री राजेन्द्रदेव सेंगर

विनोद पुस्तक मन्दिर
हॉस्पिटल रोड. आगरा

प्रकाशक—
विनोद पुस्तक मन्दिर,
हॉस्पिटल रोड,
आगरा ।

मुद्रक—
राजकिशोर अग्रवाल,
कैलाश प्रिंटिंग प्रेस,
आगरा ।

[सर्वाधिकार सुरक्षित है]
द्वितीय संस्करण
१९५६

मूल्य—
५)

?

विचार था कतिपय प्रमुख वीरांगनाओं की अमर गाथा को छन्दों में आबद्ध करने का। 'सारन्धा' काव्य को इसी भावना ने जन्म दिया।

कुछ ही छन्द लिखे गये थे कि क्रम, व्यति क्रम हो गया। लिखना भी भूले रहा। दो वर्ष बीत गये।

एक दिन स्वर्गीय बाबू प्रेमचन्द जी की 'रानी सारन्धा' नाम की आख्यायिका पढ़ने में आई। पूर्व विचार को पुनः संबल मिला। पहले के छन्दों का शोध हुई और आगे का क्रम चल निकला।

जैसा भी कुछ है; यह तो हमारे अपने कहने का विषय नहीं। पर इस काव्य को इस रूप में लाने का, बहुत कुछ श्रेय आख्यायिका के स्वनाम धन्य लेखक को ही है और अतः मैं, उनके प्रति आदर भावेन कृतज्ञ हूँ।

देव कुटीर बरौली
डा० सहार (इटावा)
दिनांक ४-१२-४४

—लेखक

तुम्हें भेंट !

मेरे रूठे साथी !

छयालिस की छब्बीस मार्च वाली काली रात भूल न सकूँगा। उस दिन से तुमने अपने पार्थिव से संन्यास ले कर 'स्वर्गीय' कहलाने का सम्मान पाया है। तुम्हारा अपना संसार तब से तुम्हें स्वर्गीय कहता है।

किन्तु मेरे मादक ! तुम तो पहले से भी स्वर्गीय ही थे। अनन्त तारिकाओं के सम्मुख, कोमल शरच्चन्द्रिका से धोये धरा के श्वेत बिछौने के ऊपर, तुम्हारे अन्तर्वाह्य का मिला प्रथम मूक परिचय, मेरे लिये आजीवन न भुलाया जा सकने वाला आह्लाद था। आपाद-वेणि स्वर्गीय थे तुम मेरे साथी। मैं धन्य था तुम्हें पा कर।

आज वे सोने के दिन अतीत लूट ले गया !

मेरी मानस-सरसिज की मृदुल धूप ! तुम अस्त हो। मैं देखा किया तुम जीवन के परे—पर्दे में, धीरे-धीरे चले गये। कुछ दे भी न सका तुम्हें। जाते समय तुम्हें देने के लिये पानी के दो बूँद भी मेरे पास न निकले। अकिंचन के पास तुम्हारे समादर के योग्य धरा ही क्या था ? आदान का प्रदान रंक से बन ही कब पाया ? बिना पाथेय के ही तुम चले गए ! ओह, तुम मेरी बेबसी समझते थे !

× × ×

आज लो, स्वीकार करो। तुम्हारे लिये तुम्हारे संगी की एक छोटी सी भेंट है। तुम्हें प्रिय होगी। तुम्हें कुछ देकर आत्म-तोष की साध पूरी करने के लिये ही देता हूँ इसे तुम को। और सुनो, इसे तुमने ही प्रस्तुत भी कराया था मेरे कवि में प्राण-स्फुरणा संचारित कर और यत्र तत्र मेरे कवि के विषय भाव और सौन्दर्य बन कर भी।

और मेरे प्रिय ! मेरी यह भेंट तुम्हारी रुचि और हृदय की स्पष्ट झलक भी है। अतः लो स्वीकार करो अपने आकुल अकिंचन की पूजा।

मेरे ध्यान लोक के अप्रतिम सौन्दर्य ! तुम्हारे अव्यक्त कुसुम-कोमल करों में इस सु-करुणान्त काव्य का करुण समर्पण है। जहाँ भी होओ, अंगीकार करना।

'तुम्हारा संतत संतप्त साथी'

३-५-४६

दूसरे संस्करण पर

'सारन्धा' का यह दूसरा संस्करण है। एक हज़ार का प्रथम संस्करण वर्ष भीतर ही सुहृदय पाठकों ने अपना लिया था। उनकी इस स्नेहार्द्र सद्रुचि के प्रति मैं अपना आदर प्रकट करता हूँ।

पहला संस्करण साम्प्रदायिक दंगे की जलती-ज्वाला के बीच में मुद्रण पा कर प्रकाशित हुआ था। स्थिति-जन्य दुर्बलताओं—शोधन-साधनाभावों, के कारण, उसमें बहुशः भूलें समाविष्ट हो गई थीं। पाठकों को ही नहीं, उसने अपने ग्रन्थकार को भी गहराई से स्पर्श किया था! उसके कवि को तीखी पीड़ा की अनुभूति हुई थी उस पर। वह प्रसन्नता, जो 'कृति' के प्रकाशन पर उसके कलाकार की अपनी स्वाभाविक 'प्राप्ति' होती है; अक्षुण्य रूप में 'सारन्धा' के कवि को नहीं ही मिल सकी थी—उसमें।

विराम इत्यादि चिह्नों के सम्यक् व्यवहार की बात दूर, प्रूफ रीडिंग ने प्रायः डेढ़ सौ शब्दों को तोड़ मोड़ कर ऐसी अग्राह्य भलें भर दी थीं उसमें, कि सुधी-समाज के समक्ष कृतिकार को 'शब्द-ज्ञान-विमूढ़' उपाधि से अभिहित हो जा सकने में किसी प्रकार की कोई असुविधा ही नहीं होती। आयगा (आपगा), फूल (कूल) सुत्मेया (सु-तोया), स्ववर्ण कृता (स्ववशीकृता), दुसषीचित (पुरुषोचित), प्रभृति अननुषंगी शब्द-संभार, उनमें से भी कतिपयों की एकाधिक बार—सर्वत्र,तदावृति, कवि-मौख्यं की, संपुष्टि के लिये, कौन कम थी? प्रथम संस्करण ने अपने कवि को उसके अपने स्थान से ऐसे दूर फेंक दिया था, जैसे कोई दुःशील शक्तिशाली वाष्प यंत्र, अपने आसन्नतम पार्श्व में आ गये असावचेत जन को झटका देकर दूर पटक फेंकता है। उस रचनाकार को, जिसकी रचना के साथ मुद्रण यन्त्र का इस कोटि का सम्बन्ध जुड़ता है, इस आहत को पीड़ा से भी, किमधिक तीक्ष्ण अनुभूति होती है। इसलिए कि भावों के प्रकाशन के आधार, शब्द ही होते हैं। उपयुक्त और उचित शब्द-योजना द्वारा ही, वक्ता वा लेखक, अपना शुद्ध बोधन करा सकता

है। शब्दों में विकार आ जाने पर, न केवल भाव पकड़ के बाहर हो जाते हैं, उन भावों का प्रकाशक भी उस संशय में आबद्ध होने की स्थिति में समझा जाने लग सकता है जिसकी औपचारिक-व्यवस्था के लिये आगरा का स्मरण किया जाता है (!)

अस्तु। इस प्रस्तुत संस्करण ने प्रथम संस्करण की मुद्रण-कृत, किंवा कवि-कृत, त्रुटियों का यथाबोध निराकरण कर दिया है। इसने अपने पूर्ववर्ती में का, कुछ छोड़ भी दिया है, बहुत कुछ नया जोड़ भी लिया है। इस प्रकार के इस परिवर्तन,—परिवर्जन, परिवर्द्धन एवं परिष्करण ने, कहना न होगा, कृति को पूर्वापेक्षा अब ईषदधिक सुष्ठु, सुन्दर और सम्पन्न बना दिया है।

'सारन्धा-काव्य' इतिहास परक है। इतिहास जब साहित्य में प्रवेश पाता है, तादात्म्य हो जाता है। साहित्य के रूप, रंग, रस, अलंकारादि; इतिहास पर छा जाते हैं और ऐसे छा जाते हैं कि फिर गौण रूप में ही इतिहास को अपने स्वरूप के दर्शन हो पाते हैं। तो भी—ऐसा होने पर भी 'सारंधा' में इतिहास का सत्व भरपूर है। ऐतिहासिक तथ्यों की यथालब्ध, इसमें रक्षा है, उपेक्षा नहीं।

यतः ग्रन्थ के पूर्वापर संस्करण में पर्याप्त पाठ-भेद हो गया है, अतः अब, जब कि लेखनी-स्पर्श की संभाव्यस्थिति से; यह कृति; मुक्त प्राय हो गई, इस संशोधित संस्करण में; इसका परिसीमन कर देना असंगत न होगा। एक नया सोपान बढ़ कर अब इसमें छोटे मोटे तेरह सोपान हो गये हैं। मंगलाचरणोत्तर 'स्वदेश-स्तव' से 'अथ' पाकर, इस संस्करण में 'उपोद्घात' को इसने और स्थान दिया है। बीच-बीच में यत्र-तत्र फेर-बदल और प्रसार तो किया ही। सब मिला कर २६६४ चरणों के ८४३ छन्दों में इस ग्रन्थ ने अब अपनी 'इति' पा ली है। 'संस्करण' शब्द के अर्थ-औचित्य को इस प्रकार, प्रस्तुत संस्करण में, यथेष्ट चरितार्थता उपलब्ध हो गई। 'इस काव्य का धरती' निबन्ध भी इस संस्करण में भूमिका रूप में बढ़ाया गया है।

अब, अपनी अवशेष भूलों-दुर्बलताओं की क्षमा याचना के अपने अधिकार की रक्षा के साथ-साथ, इसके माध्यम से, सुज्ञों का सामीप्य पाता रहना मुझे अविरत प्रसन्नता देता रहेगा।

देवकुटीर बरौली
फाल्गुणि पूर्णिमा
२०१२ विक्रमाब्द

राजेन्द्रदेव सेंगर

कृतज्ञता-प्रकाशन

मैं; अपने विद्यालयों की नई पीढ़ी की मृदूर्वर मनोभूमि में धर्म एवं चरित्र गठन के सात्विक-भाव-बीजोद्भासन में दत्तचित्त प्रेरक—तत्तद्दिशा में क्रियानुरत भी, स्वधर्म-परायण साधुमना श्रद्धेय श्री बालकृष्ण जी टंडन; वर्तमान जिला-विद्यालय-निरीक्षक इटावा; का, इसके लिये बहुत बहुत आभारी हूँ कि प्रस्तुत काव्य को अपना सद्भाव और सौहार्द दे कर उन्होंने मुझे अपना प्रसाद-भाजन बनाया।

रा० दे० सें०

'इस काव्य की धरती:'

बुन्देल खंड की धरती ने इतिहास में गौरव के चमकीले पृष्ट जोड़े हैं। आत्म सम्मान एवं स्वतन्त्रता-अर्जन की ऐतिहासिक सत्व से भरी पुरी प्राणोत्सर्ग की महीयसी कथाओं से उसका अंचल बोझिल है। उसका कण-कण हुतात्मा वीरों के रक्त से सना और बना है।

यों तो वीरता से तादात्म्य भाव रखने वाले शूर वीर सभी वर्णों और जातियों में सम्भूत हुये हैं, किन्तु निस्सन्देह यदि कोई जाति विशेष इसका पूर्ण और सम्यक् प्रतिनिधित्व करती है तो वह एक क्षत्रिय जाति ही है। क्षत्रिय-रक्त निरन्तर से युद्ध-प्रिय, असहिष्णु और मृत्यु से खिलवाड़ करने वाला रहा है। अन्य रक्तों की अपेक्षा, इसमें गरमी की मात्रा, आद्य युग से बहुत अधिक रही है। गौरव और सम्मान के उठते प्रश्नों पर, हँसते-हँसते मिट जाना, इसकी अपनी विशेषता रही है। अविचार और अतिचार के चरणों में शीश झुकाना तो जैसे इस जाति के वश का कभी रहा ही नहीं। उत्पीड़न और अन्याय के विरुद्ध तलवार उठा लेना और खड्ग धार से, विपन्थी को सन्मार्ग दिखा देना, इसका प्रकृत-धर्म रहा। बहुत बार, सामान्य से निष्कर्ष पर पहुँचने के लिये भी! विवेक के स्थान पर इसने लोहे को—मस्तिष्क के स्थान पर भुजाओं को, प्राथमिकता दी और इसकी अति में क्षत्रिय, इतना आगे बढ़ गया कि उसका यह प्रकृत-धर्म ही उसका विनाशी बन गया। उसका अपना संगठन उसी की तलवार से कट गया और एकता किंवा सौहार्द्र के अभाव ने उसे दुर्बलता, असमर्थता, पराधीनता और लांछना की रज्जु से कस कर बाँध दिया। उसका आगे का बढ़ाव तो रुक ही गया, वह अपने स्थान पर भी ठीक से न रह सका। धीरे-धीरे आत्मबोध खोता-खोता, शौर्य-शिखर से गिर कर वह शृंगार-पंक में लिथड़ गया और विलास-कर्दम में फँस कर वह विदेशों से शासित हो गया।

इस प्रकार काला नाग अपनी ही केंचुल से निस्तेज पड़ गया और उसकी फूत्कार में दम न रहा!

अस्तु : इसमें सन्देह नहीं कि बुन्देल खंड का क्षत्रिय भी बड़ा पनीला रहा है। उसने अपने पानी से, बुन्देलखंड की कण-कण भूमि सींची और मातृभूमि के पानी को बनाये रक्खा। बुन्देलखंड की स्वतंत्रता और सम्मान के लिये, उसने सभी कुछ किया है। इतिहास की अमर कहानियों में, उसने, अपना अमृतत्व भर दिया है। यहाँ बुन्देल खंड के बुन्देला क्षत्रियों क्षत्रियों पर सूक्ष्मतः इंगित स्पर्शक प्रकाश डाल देना कदाचित अननुषंगिक न होगा।

बहुत पुराना इतिहास लिखने के लिये, इतिहास लिखने के समूचे साधन उपकरण उपलब्ध होने पर भी, अनुमानों का सहारा लेना अनिवार्य हो जाता है। परन्तु अनुमान तो अनुमान होते हैं। वे सत्य के अति निकट भी हो सकते हैं और बहुत दूर भी। लेकिन हाँ, किसी भी जाति-विशेष का इतिहास जानने के लिये, इन अनुमानों से कहीं अधिक सत्यता और सु-स्पष्टता होती है उस जाति में की परम्परा से चली आने वाली, उसकी अपनी मान्यता अथवा मान्यताओं में। वंशधरों की ये परम्परानुगत मान्यतायें, अपने में सूत्ररूप से अपना इतिहास होती हैं।

परम्परानुगत अपनी मान्यता के अनुसार बुन्देले सूर्य वंशी क्षत्रिय और अयोध्या नरेश श्री रामचंद्रजी के वंशधर हैं। कुश* के आठवें वंशधर काशी-राज, काशी आ कर रहे थे। कहा जाता है कि काशी के गहरवार राजघराने के मूल पुरुष, यही काशीराज थे।

किन्तु कुछ बुन्देले अपने को श्री रामचन्द्र जी के ज्येष्ट पुत्र लव का वंश-धर कहते हैं। लव की पीढ़ियों में उत्पन्न गगनसेन ई० सन् १८२ में पूर्व की ओर चले आये। इनके वंशधरों में गंगा ऋषि ने गया जी में एक मन्दिर बनवाया। प्रद्युम्न ऋषि ने प्रयाग में अक्षयवट लगवाया और इन्द्रद्युम्न ने पुरी में जगन्नाथ जी का मन्दिर और इन्द्र दमन सरोवर निर्माण कराया।

ओरछे के भाटों के अनुसार इस शाखा में हुए कर्तृराज‡ के पूर्व, छटे

---

*कुश के हरिब्रह्म, हरिब्रह्म के महिपाल, भुवन पाल, कमलचन्द्र चित्रपाल बुद्धिपाल और विहंगराज—ये सातों वंशधर अयोध्या में ही रहते रहे। इनके वंशधर हुए क्रमशः गहिरदेव, विमलचंद्र नानक चन्द्र, गोपचन्द्र, गोबिन्दचन्द्र टिहनपाल, विन्ध्यराज, शौनकदेव, बीझलदेव, अर्जुन देव और वीरभद्र। 'छत्र प्रकाश' के अनुसार 'पंचम' अथवा हेम करन, इन्हीं वीर भद्र के पुत्र होते हैं।

‡कर्तृराज (६७४ ई०) से १०४८ ई० तक २० राजा (कर्तृराज, महि

राजा अनिरुद्ध देव काशी में आ कर रहे थे। वे उस समय के, काशी के शनि राजपूत राजाओं के, करद मांडलिक होकर रहे थे।

कर्तृराज ने अपने समय में, जब काशी के शनि राजपूत राजा दिवोदास को राज्यच्युत किया, राज्य की आन्तरिक दशा दैन्य थी। पंडितों की सम्मति से इस अशुभ के निवारणार्थ उन्होंने दुष्ट ग्रहों की शान्ति करवाई। अतः वे ग्रहनिवार कहलाये। गहरवार शब्द इसी ग्रह-निवार का रूपान्तर है।

कर्तृराज से करन पाल तक का समय इतिहास के प्रकाश में नहीं आ सका। इसके आगे 'पंचम' इस कुल के गौरव-धन हुये। किन्तु करनपाल के पुत्र हेम करन, पंचम थे, अथवा कुश-शाखोद्भूत वीर भद्र के पुत्र? यह अस्पष्ट है। यतः कुशवाहा क्षत्रिय, कुश को अपने वंश के मूल-पुरुष की मान्यता दिये हैं, अतः गहरवारों का, अपने को लव का वंशधर बताना अधिक संगत प्रतीत होता है और अतः लव के वंशधर करन पाल के पुत्र को ही पंचम (हेम करन) मानना ठीक होगा।

अपनी प्रतिभा और वीरता के कारण न केवल प्रचुर प्यार, हेमकरन (पंचम) ने पिता से राजगद्दी भी पाई। इनके अग्रजों—वीर और अरिब्रह्म को, जागीरें मिलीं। परंतु पिता के मरते ही इन दोनों ने पंचम से गद्दी छीन ली।

इन दिनों राज्य, लाठी वालों की भैंस हो रहे थे। जुझौती का चन्देल राज्य ह्रासोन्मुख हो रहा था, पश्चिमांचल मुसलमान दाबे थे, उत्तर का अधिकांश भी उनका हो गया था और दक्षिणी भाग पर गोंडों के प्रयत्न चल रहे थे।

दिल्ली के सत्ताधीश, राज्य में सूबेदारों को नियुक्त कर सुदूर तक प्रशासन कर रहे थे और ये सूबेदार शक्ति बटोर कर स्वतंत्र हो जाते थे। जैजाक भुक्ति (जुझौती) में मुसलमान जम तो गये थे, लेकिन पूरे तौर पर नहीं। वहाँ के सूबेदार कर्तृराज के वंशधर ही थे। वे भी समय का लाभ उठाते गये। पंचम के लिये यह स्थिति अनुकूल थी। थोड़ी बहुत सेना बटोर कर उन्होंने स्वतन्त्र राज्य बना लिया। श्री विन्ध्य वासिनी देवी की आराधना करके उन्होंने अपने भावी उत्कर्ष का वरदान भी पाया था। उन्होंने १६ वर्ष राज्य किया और १०७१ ई० में शरीर छोड़ा।

राज, मूर्धराज, उदयराज, गरुड़ सेन, समरसेन, आनन्दसेन, कुमार सेन मोहन सेन, राजसेन, काशीराज, श्यामदेव, प्रह्लादेव, हमीरदेव, आसकरन, अभय करन, जैतकरन, सोहनपाल और करनपाल) हुये।

पंचम के पुत्र वीर बुन्देल, अपने पिता की कीर्ति में और भी उजाला लाये। उन्होंने पहले भदोरिया राजपूतों से अंटेर छीना, फिर अफगान सरदार तातार खाँ को पीट कर कालपी के इर्दगिर्द का, वह सारा प्रदेश ले लिया, जिस पर उसके छोटे-बड़े ७२ सरदार शासन करते थे। कहा जाता है कालिंजर का किला भी उन्होंने कलचुरियों से छीन लिया था। अपनी दुर्विजेय तलवार के कारण वे, 'लोहधार' नाम से पुकारे गये। उन्होंने अपने अकूत बाहुबल से जुझौती का अधिकांश वश में कर लिया था। महोनी को राजधानी बना कर उन्होंने १६ वर्ष राज्य किया।

ई० सन् १०८७ में, इनके मरने पर, इनकी तीसरी रानी से उत्पन्न हुये करनपाल राजा हुये। आगे की राजा-शृंखला अनुल्लेख-प्राय रही। १११२ ई० से १८ वर्ष तक कन्नरशाह राजा रहे और अनपत्य मरे। फिर २२ वर्ष तक इनके भाई शौनक देव ने राज्य किया। इनके भी निस्सन्तान मरने पर ११५२ ई० से ११६६ ई० तक, इनके भाई नौनक देव ने राज्य किया। मृत्यु से पूर्व ही, अपने भतीजे वीर सिंह के पुत्र मोहनपति को, इन्होंने गोद ले लिया था। इनके भी सन्तान न थी, अतः राज्य अपने भाई अभय भूपति को दे, ये विरक्त हो गये। अभय भूपति ११६७ ई० से १८ वर्ष तक राजा रहे और १२१५ ई० में अपने पुत्र अर्जुन पाल को राज्यारूढ़ करके काशीस्थ हो गये।

अर्जुनपाल महोनी से ही राज्य करते रहे। इनको दूसरी रानी से सोहनपाल और तीसरी से वीरपाल और दयापाल दो पुत्र थे। ई० सन् १२३१ में पिता की मृत्यु हो जाने पर सोहनपाल राजा हुये। किन्तु वे अपने वैमात्र वीरपाल से राज्यच्युत कर दिये गये। तब गढ़ कुंडार के खंगार राजा हुरमत सिंह से महोनी पानी के लिये सहायतापेक्ष्य हुये और निराश रहे। सोहनपाल साहसी और दृढ़ संकल्पी थे। एक स्वतन्त्र राज्य बनाना उनका लक्ष्य था। यतः खंगारों ने अपने अभद्र व्यवहारों से उनका जी बिगाड़ दिया था, अतः १२५७ ई० में उन्होंने खङ्गारों को अपनी कूट-क्रिया का भक्ष्य बना, और हुरमत सिंह के गढ़कुंडार पर अधिकार कर लिया। थोड़े दिन बाद जैतपुर भी उन्होंने ले लिया। वे अपने लक्ष्य में सफल हो गये। १२५६ ई० में उनका शरीर शान्त हुआ।

सोहन पाल को सहजेन्द्र और रामसिंह दो पुत्र थे। सहजेन्द्र राजा हुये। इन्होंने कालपी और चौरागढ़ तक राज्य बढ़ाया और १२८३ ई० तक राज्य किया। फिर इनके पुत्र नौनक देव ने १३०७ ई० तक २४ वर्ष राज्य किया। नौनक देव को पृथ्वीराज और इन्द्रराज दो पुत्र थे। पिता के मरने पर पृथ्वी

राज राजा हुये। ये बड़े योग्य और वीर थे। मुसलमानों के हिन्दुओं पर होते रहने वाले सब प्रकार के अत्याचारो की प्रतिक्रिया के फल-स्वरूप ये स्वभावतः हिन्दू धर्म के सजग प्रहरी और धर्म प्राण नरेश थे। इनके समय में हिन्दुओं में धार्मिक स्फुरणा रही। यज्ञ यागादि में इनकी निष्ठा अभंग रही। चन्देल राजा शशांक से युद्ध में आहत हो कर ई० सन् १३३६ में ये दिवंगत हुये।

पृथ्वीराज के पीछे उनके पुत्र रामसिंह ने १३७५ ई० तक, तदनन्तर इनके ज्येष्ठ पुत्र रामचन्द्र ने १३६४ ई० तक राज्य किया। रामचन्द्र निरपत्य रहे, अतः उनके छोटे भाई मदनपाल (मेदिनीमल) राजा हुये। इन्होने सिहुँड़ा और महेवा अपने राज्य में मिलाये और १४३७ ई० तक राज्य किया।

मदनीमल के बाद उनके पुत्र अर्जुनदेव ३१ वर्ष तक राज्य करते रहे। ई० सन् १४६८ में अपने पुत्र मलखानसिंह को राज्य-गद्दी दे कर, यह काशी-वास के लिये चले गये। मलखान सिंह वीर थे। गवालियर के राजा कीरत सिंह तोमर के पक्ष में यह बहलोल लोदी से लड़े। कीरतसिंह ने बहलोल के क्रोध-भाजन-हुसेनशाह शरकी जौनपुरी को सहायता दी थी, अतः बहलोल ने गवालियर पर आक्रमण कर कीरतसिंह से अस्सी लाख रुपया दंड के भर लिये थे। मलखान सिंह ने यह युद्ध १४७६ ई० में लड़ा था। उन्होंने १५०१ ई० तक ३३ वर्ष राज्य किया।

सोहनपाल के समय से अब तक के राजाओं की राजधानी गढ़कुंडार में ही रही आई। बताया जाता है कि मलखानसिंह ने ही इसे ओरछा में स्थानान्तरित किया था। इन्हें छः पुत्र थे। ज्येष्ठ पुत्र रुद्र प्रताप (रण रुद्र प्रताप देव) गद्दी पर बैठे। शेषों ने जागीरें पाईं*। महाराज रुद्र प्रताप के राज्य-काल में ओरछे ने अपना नया रूप सँवारा। पहले यह पड़हारों की राजधानी था। चन्देलों से पराभूत हुये पड़हार क्षीण-शक्ति हो गये थे। ओरछा की राजधानी ही उनके अतीत की धुँधली स्मृति-रेखा सी रह गई थी, जिसे मुसलमानों और खंगारो ने विरूप करने में अपनी ओर से कोई कोर कसर नहीं रहने दी थी। महाराज रुद्रप्रताप ने ओरछा का बनाव सँवार कर, उसको मांसल और पुष्ट-काय किया। उसमें नया निखार लाये। इसीलिये उनको ओरछा का बसाने वाला कहा जाता है।

अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा के लिये महाराज को कितने ही कड़े मुकाबले भी लेने पड़े। समय-समय पर सिकन्दर लोदी और इब्राहीम लोदी ने भी इनकी

*खड्गसिंह ने बरेठी, जोगजीतसिंह ने खाली, सिंह जैतसिंह ने तलेहटा, शाहदीवान (मित्रसेन) ने असाटी और देवीसिंह ने नेवारी की जागीरें पाईं।

तलवार का पानी पिया। इन्होंने उनसे कसकर युद्ध लिये।

रुद्रप्रताप न केवल परम वीर थे, धर्मात्मा भी ये। गो-रक्षा उनके जीवन का ध्येय रहा। ज्येष्ठ कुमार भारतीचन्द्र को राज्याधिकार देकर गढ़कुंडार जा रहे थे कि उन्होंने सिंह से घरी हुई एक गाय की करुण पुकार सुनी। तत्काल पहुँचकर और सिंह को मार कर उन्होने गाय बचाली। किन्तु गाय के बचाने में वे स्वयं इतने घायल हो गये थे कि उनके इन घावों ने उनका और मृत्यु का अन्तर समाप्त कर दिया।

महाराज रुद्र प्रताप को दो विवाहों से १२ पुत्र हुये। भारतीचन्द्र और मधुकर शाह ने राजगद्दी पाई। राव उदयाजीत आदि सात कुमारों ने जागीरें पाईं§ और तीन अल्पायु हो गये।

महाराजा रण रुद्र प्रताप देव के दिवंगत हो जाने पर भारतीचन्द्र (हरिश्चन्द्र) राजा हुये। इन्होंने शेरशाह सूरी से कसकर लड़ाई ली थी। ई० सन् १५४५ में उसने इनका कालिंजर का दुर्ग ले तो लिया, किन्तु उस दुर्ग की बारूद ने आग पकड़ कर उसे जला भी डाला। इस बारूद-कांड में हो सकता है कि अप्रत्यक्ष रूप से बुन्देलों का मस्तिष्क क्रियाशील रहा हो!

भारतीचन्द्र के समय में ओरछा का दुर्ग और महल बनकर सम्पूर्ण हुये (१५३६ ई०) और तभी गढ़कुंडार की राजधानी भी सम्पूर्ण रूपेण ओरछा में आई। इसके १५ वर्ष बाद भारतीचन्द्र की मृत्यु हो गई और उनके छोटे भाई मधुकरशाह महाराज हुये।

महाराज मधुकरशाह धर्मप्राण और भगवान कृष्ण के अनन्य उपासक थे। इनकी सु-ख्यात रानी गनेसकुँवरि भी परम साध्वी और भगवान राम जी की एकनिष्ठ उपासिका थीं। उन्हें राघवेन्द्र का इष्ट भी था। कहा जाता है कि इनकी प्रार्थना पर राम राजा, अयोध्या से चले आकर ओरछा में अधीष्ठित हुये।

इन दिनो भी देश की स्थिति पूर्ववत्—अशान्त थी। मुसलमानों की धर्मान्धता और पर-धर्म-असहिष्णुता सदा से घिनौनी रही। इस समय भी वह वैसी ही थी। मधुकरशाह की धर्मनिष्ठा और स्वतन्त्रता पूर्वक राज्य करना उनको सह्य न हुआ। अकबर को यह खटका! तिलक और माला धारण कर दरबार में न आने की राजाज्ञा की कठोरता उसने घोषित कर दी। दूसरे दिन

---

§राव उदयाजीत को महेवा, अमानदास को पँडरा, प्रयागदास को हरसापुर, दुर्गादास को दुर्गापुर, चन्दनदास को करेरा, घनश्यामदास को मेगवां और भूपतिशाह को कुँहरा की जागीरें मिली थी।

सभी दरबारी हिन्दू राजा-उमरा इन दोनों धार्मिक प्रतीकों से मुक्त ! जब कि महाराज मधुकरशाह का तिलक, पूर्वापेक्षा किमधिक आकर्षक और स्पष्ट था। कूट-प्रवर अकबर प्रकटतः तो उन पर प्रसन्न हुआ और उस तिलक विशेष को 'मधुकरशाही-तिलक' की राजकीय मान्यता का सम्मान प्रदान किया किन्तु 'मधुकरशाह कट्टर हिन्दू है !' इस धारणा से वह बद्धमूल भी हो गया !! कुछ ही दिन उपरान्त उसने पहले न्यायमत कुली खां और अली कुलीखां को, फिर जाम कुलीखां और सैयदकुलीखां को भेज कर, दो बार ओरछा पर चढ़ाई की। परन्तु दोनों ही बार शाही सेना की पराजय हूई। अन्त में ई० सन् १५७७ में मुहम्मद सादिक़ की सिपह सालारी में गवालियर के तोमर राजा आसकरन को साथ कर, फ़ौज भेजी। इस युद्ध में राज पुत्र होरलदेव मारा गया और रामशाह आहत हुआ। सन्धि के माध्यम पर दोनों पक्षों से युद्ध समाप्त तो हो गया किन्तु यह सन्धि बहुत दिन टिकी न रह सकी।

ई० सन् १५८८ में आसकरन और अब्दुल्ला खां को फिर भेजा गया। इस बार ओरछा का बहुतेरा भाग मुग़लों के हाथ लगा किन्तु मधुकरशाह का आत्म समर्पण हाथ न लगा। इससे क्षुब्ध होकर अकबर ने मुराद की अधीनता में विशाल सेना भेजी। इस सेना ने ओरछा जीत तोलिया (१५९१) परन्तु यह विजय पाने में उसे बुन्देलों की दुर्द्धर्ष शक्ति से टकरा कर पसीना पसीना हो जाना पड़ा था। १५९२ ई० में महाराज परलोक वासी हो गये।

महाराज मधुकरशाह के ८ पुत्र थे। बड़े कुमार रामसिंह (रामशाह) राजा, शेष जागीरदार हुये*। अब ओरछा के ८ भाग हो गये। कहने को सब ओरछा के आधीन थे किन्तु व्यवहारतः सब स्वतन्त्र। रामशाह इनको दबाने में अशक्त निकला। उसकी दुर्बलता से ओरछा २२ स्वतन्त्र जागीरों में बँट गया। इनमें सात तो भाई बन्धु थे, शेष परमार कछवाहे और गोंड थे।

रामशाह में अपने पिता मधुकरशाह जैसी दृढ़ता न थी। वह स्व को अकबर पर यहाँ तक निर्भर कर चुका था कि उसकी आज्ञा से उसने गवालियर के तोमर राजा आसकरन के साथ अपने ही भाई वीरसिंह देव पर चढ़ाई की थी। वीरसिंह देव साहसी और जवां मर्द थे। बड़ौनी के जागीरदार होते ही उन्होंने पवायां और तुरन्तबाद तोमर गढ़ जीत लिया। इनकी इन

*होरलदेव १५७७ ई० में खेत रहे थे। इन्हें पिछौर की, इन्द्रजीत को कच्छौवा की, वीरसिंह देव को बड़ौनी की, हरिसिंह देव को भासनेह (झांसी) की, प्रतापराव को कुच पहरिया की, रतनसिंह को गौर झामर की और रनसिंह देव को शिवपुर (गवालियर) की जागीर मिली थी।

विजयों से चारों ओर की आँखें इस उदीय ज्योति पर पड़ने लगीं। लोगों पर इनका सिक्का बैठ गया। इधर इन्होंने मैना और जाटों को हराया तो उधर बरेछा और करहरा पर कब्जा कर लिया। बाघ जंग जांगड़ा को युद्ध में पछाड़ कर उसका हथनौरा छीन लिया। इनकी इस मारधाड़ से डरकर भांडेर का मुगल सरदार हसन खां भाग गया। भांडेर बिना लड़े ही मिल गया। लगे हाथ ईची खां से एरछ भी छीन लिया। अकबर का गवालियर का सूबा इनके शौर्य के प्रवाह से बह-बह उठा।

अकबर ने इस दुर्दान्त को दबाने के लिये उसी के भाई—ओरछा के रामशाह और गवालियर के आसकरन तोमर के साथ शाही फौज भेजी। हसन खां पठान, हरधौरपँवार और राजाराम पँवार भी साथ थे। जगमन भी चाँदपुर पर आ मिला। वीरसिंह देव ने इस विशाल अभियान से, सामने-सामने भिड़ना ठीक न समझा। वे इन्द्रजीत और प्रताप राव को साथ लेकर गोरिल्ला (छापामार) लड़ाई लड़ने लगे और शाही सेना को छका-थका कर रामशाह और आसकरन को लौटने के लिये विवश कर दिया।

अकबर सोच में पड़ गया। वीरसिंह देव की बढ़ती शक्ति, उसके लिये भय बन गई। उसने दक्खिन से अबुलफ़ज़ल को बुलाकर, उसके साथ पं० जगन्नाथ और दुर्गादास* को भेजा (१५९४ ई०)। रामशाह और अब्दुल्लाग्वां भी शाही सेना के साथ हो गये। इन सब सरदारों के साथ अबुलफ़ज़ल ने पवायाँ में 'पड़ाव किया। यहां ने रामशाह ने पं० गोविन्ददास द्वारा, वीरसिंह देव के पास बड़ौनी छोड़ देने का प्रस्ताव भेजा। परन्तु उन्होंने अस्वीकार कर दिया और युद्धोन्मुख हो गये। शाही सेना ने बड़ौनी घेर ली, किंतु वीरसिंह देव, बच निकल कर, छापामार लड़ाई लड़ने और शत्रु के दाँत खट्टे करने लगे। तङ्ग आकर खानखाना ने इन्हें बुलाया। अतः अब्दुल्ला खां से, जो सूबेदारी पर दक्खिन जा रहा था, ये मिले। उसने इन्हें मनसब दिलवाया और अपने साथ दक्खिन ले गया।

वीरसिंह देव के दक्खिन जाते ही बड़ौनी में शाही थाने जम गये। मनसब पाने का रहस्य उनकी समझ में अब आया। बरार पहुँचने पर उन्होंने बड़ौनी की माँग की। किंतु अवसर का लाभ उठा, रामशाह का पुत्र संग्राम शाह, पहले ही बड़ौनी माँग, पा चुका था। अतः बड़ौनी के लिये मजबूरी प्रकट करते हुये, उसने उन्हें दक्खिन में जागीर देने का वचन दिया किंतु वीरसिंह देव को बड़ौनी चाहिये थी! दक्खिन न जाकर वे लौट आये। इसके

*रामशाह के चाचा और मधुकरशाह के सहोदर

आते-आते बड़ौनी से शाही थाने आपों आप उखड़ गढे।

ई० सन् १५९९ में शाहज़ादा मुराद की, दक्खिन में मृत्यु हो गई। बेटे का दुःख भरे हुये अकबर, दक्खिन जाने के लिये, आगरे से धौलपुर होता हुआ गवालियर पहुँचा। वहाँ से राजाराम कछवाह को उसने वीरसिंह देव के पास बड़ौनी भेजा और माड़ौ जाने के लिये आप नरवर (नलपुरा) आकर रुका। यहाँ उससे रामशाह मिला और बड़ौनी से लौट आकर राजाराम भी। संग्रामशाह ने बड़ौनी पा तो ली थी परन्तु उसकी ओर वह देख भी न सका था। अतः बड़ौनी पर संग्रामशाह को कब्जा दिलाने के लिये, इन लोगों ने अकबर से सहायता की याचना की। वह तो चाहता ही था। रामशाह के साथ, एक बड़ी सेना का सेनप बनाकर उसने राजसिंह को भेजा। वीरसिंह देव की तैयारी भी कम न थी। राव प्रताप तो स्वय भी आये थे, रतनसिंह के पुत्र इन्द्रजीत ने अपनी सेना भेजी थी। शत्रु की दृढ़ शक्ति देखकर राजसिंह ने सन्धि-प्रस्ताव का आश्रय लेना अनुचित न समझा। परन्तु वीरसिंह देव ने उसे अमान्य कर दिया। भाई हरवंश, अनन्दी पुरोहित और देवा पायक के बहुत-बहुत समझाने पर, वे कैसे भी तैयार हुये! बड़ौनी छोड़ दी। परन्तु उनके हटते ही सन्धि-सूत्रों के प्रतिकूल आचरण कर, जब राजसिंह ने गाँव में आग लगवा दी, तो महाराज को बहुत बुरा लगा। उन्होने कतिपय चुने सामंतों—बकसराय प्रधान केशवराय, चम्पतराय, मुकुट गौड़, कृपारामसिंह और बलवन्त यादव, के साथ रात में ही आक्रमण कर दिया। दोनों ओर से जमकर मैदान हुआ। परन्तु राजसिंह जमा न रह सका, गवालियर भाग आया।

सलीम, मुराद और दानियाल, अकबर के तीन बेटे थे। मुराद मर चुका था। सलीम को बाप की मुहब्बत के मीठे घूँट मिलने में कोताही रही। अतः वह आगरा छोड़कर, अवध और कड़ा मानिकपुर दाब बैठा (१५९९ ई०) किसी के भी, दो दूर-दूर के विरोधी, परस्पर की गहरी मित्रता में बँध जाते हैं। अतः वीरसिंहदेव ने प्रयाग पहुँच, अकबर से असंतुष्ट, उसके पुत्र सलीम से भेंट की। तीर निशाने पर बैठा? सलीम महाराज से मिलकर बहुत प्रसन्न हुआ और उनका बहुत सम्मान किया। उधर अकबर ने राजद्रोही सलीम का दमन करने के लिये दक्खिन से अबुल फ़ज़ल को बुलाया (१६०२ ई०)। इधर सलीम का विश्वास था कि पिता का मन, उसकी ओर से बिगाड़ने वाला अबुल फ़ज़ल है! अतः अबुल फ़ज़ल का निवारण, सलीम के लिये तात्कालिक और अति प्रमुख प्रश्न हो गया। महाराज वीरसिंह देव ने इसे अपने ज़िम्मे ले लिया। वे सैयद मुज़फ़्फ़र के साथ प्रयाग से बड़ौनी आये। उन्हें पता

चला कि अबुलफ़ज़ल सिन्ध पार कर, आंतरी के पास पराइछ गाँव में सेना लिये पड़ा है। उन्होंने दूसरे ही दिन जाकर उसे घेर लिा। भीषण युद्ध और रक्तपात हुआ। किन्तु सेना की भारी क्षति उठाकर भी महाराज ने अबुलफ़ज़ल का सिर काट लिया (१६०२ ई०)। सिर को वे बड़ौनी ले आये और चम्पतराय के संरक्षण में सलीम के पास, प्रयाग भेज दिया। अबुलफ़ज़ल का रक्ताक्त सिर देखकर सलीम फूला य समाया उसने उसी क्षण, महाराज का राज्याभिषेक करने के लिये, चम्पतराय के साथ; अपना पंडित और रत्नजटित तलवार, छत्र, चामर, डंका और निशान भेजे। महाराज का यह अभिषेकोत्सव बड़ौनी में, बड़ी धूम से हुआ।

अबुलफ़ज़ल के क़त्ल से अकबर हत सा रह गया। "कितना अच्छा होता कि अबुलफ़ज़ल को बचा रख कर, सलीम! तू ने मेरा सिर कटवा लिया होता!!" इन उद्‌गारों के साथ अकबर ने अबुलफ़ज़ल के लिये अपने आँसू बहाये। वह अकबर का महान विश्वास पात्र और प्रीत भाजन था। उसके शोक में वह दो दिन भोजन त्यागे रहा। फिर वीरसिंह देव को पकड़ने के लिये उसने सेना भेजी। राजसिंह, रामशाह और राजाराम साथ गये। बरेछा के सुजान रायपँवार, प्रतापराय और सुजानशाह भी अपनी सैन्य-सज्जा समेत, गवालियर में आ मिले और आँतरी पहुँचे। वीरसिंह देव बड़ौनी से दतिया चले आये और जब शत्रु का दबाव दतिया पर हुआ तो एरछ। शत्रु की के सेना पीछे पड़ी थी, उसने एरछ में उन्हें घेर लिया। यहाँ महाराज के छोटे भाई हरिसिंह देव से भीषण युद्ध हुआ और कितने ही बड़े-बड़े योद्धा खेत रहे। इस बीच महाराज दूनी चले आये और जब शाही सेना दूनी पहुँची तो दूनी में न होकर महाराज फिर दतिया आ रहे। इस बार दतिया में, सलीम भी मिल गया। महाराज को पाकर वह बहुत प्रसन्न हुआ।

अकबर तंग आ गया था वीरसिंह देव से और उसकी पीठ ठोंकने वाले अपने पुत्र सलीम से। उसने सलीम को फोड़ने में ही कुशल देखकर शाहज़ादे के पास मुहब्बत का पैग़ाम भेजा। पिता के स्नेहानुरोध पर सलीम आगरा चला आया।

इधर महाराज के इतस्ततः भागते फिरने से उनके समस्त अधिकृत स्थान मुग़लों के हो गये थे। लेकिन सलीम के आगरा जाते ही, जैसे ही शाही सेना फिरी, महाराज ने उन स्थानारूढ़ों को गाजर मूली की तरह काटकर, सारे स्थान वापस ले लिये। संग्रामसिंह ने भांडेर जीत लिया और मेल जोल हो जाने के कारण, उसे अपने चाचा (वीरसिंह देव) को दे दिया। बदले में

उसने लहचुरा पाया। भासनेह लेने के लिये लड़े गये युद्ध में हरिसिंह देव ने खङ्गराय की तलवार से वीरगति पाई थी। भाई की मृत्यु महाराज को अखर गई। वे तुरन्त इमलोटा गये और खङ्गराय का सपरिवार उच्छेद कर डाला। उसका सिर सलीम के पास आगरा भेज दिया। सलीम बहुत प्रसन्न हुआ, लेकिन अकबर, यद्यपि स्पष्ट नहीं हुआ, तथापि अन्तर्क्रोध से अभिभूत हो उठा। महाराज का साथ छोड़ देने का उसने सलीम पर बहुत जोर डाला परन्तु सलीम को अकबर की अप्रसन्नता स्वीकार्य थी, महाराज का साथ छोड़ना नहीं। वह फिर प्रयाग चला आया।

ई० सन् १६०४ में सलीम की माता जोधाबाई (आम्बेर की राजकुमारी) की मृत्यु हो गई। इससे सलीम को बड़ा दुःख हुआ। पिता के बुलाने का और अपने सरदारों के अनुरोध का आदर कर वह आगरा गया ज़रूर, परन्तु फिर से उपेक्षा और न पटती पाकर लौट आया। खांडेराय (खङ्गराय) की चोट को अकबर भूला न था अतः उसने अब्दुल्ला खां की अधीनता में महाराज को पकड़ने के लिये सेना भेजी। इधर इसी समय प्रयाग में महाराज ने सलीम से भेंटकर, आकर ओरछा पर अधिकार कर लिया था। अब्दुल्ला खां की सेना खम्हरौली आ पहुँची थी। इन्द्रजीत, संग्रामशह, रावप्रताप, उग्रसेन, केशवदेव प्रभृति सामन्तों के साथ महाराज ने ओरछा से एक मील हटकर शाहीसेना का सामना किया। भीषण युद्ध और भयानक मार काट हुई। राजसिंह और अब्दुल्ला को प्राण रक्षा की कठिनाई पड़ गई। उसका माही मरातब (सैन्यध्वज) छिन गया और वह पीठ दे गया। राजसिंह भी कटौली भाग आया। इस पराजय ने अकबर के मेरुदंड पर करारी चोटमारी। इन्तक़ाम के बुखार में वह दूसरी सेना भेज ही रहा था कि दानियाल की मृत्यु हो गई। मुराद मर ही चुका था। स्वयं भी जरा जर्जर हो आया था। बीमार पड़ गया और ई० सन् १६०५ में मर गया।

अकबर के मरने पर जैसे ही शाहजादा सलीम, जहाँगीर नाम लेकर, तख्त पर बैठा, उसने आगरा में बुलाकर महाराज वीरसिंह देव का अपूर्व सम्मान किया और न केवल समूचे बुन्देलखंड का राज्य दिया, उन्हें बहुमूल्य राजकीय परितोषिक भी प्रदान किये। आगरा से समादरित होकर ओरछा आने पर अब महाराज ने अपना [illegible] विरोध मेटना चाहा। उनमें और रामशाह में चला आया विरोध बहुत कुछ मिट भी गया—सद्भावना की सम्भावना क्षितिज पर मुँह खोलने ही चली थी कि स्थायी सन्धि होने के प्रयत्नों में, कुछ ऐसी किरकिरी पैदा करदी गई कि लक्ष्य से दोनों, दूर हटते गये और

अन्ततः प्रसुप्त गृह-कलह उद्दीप्त हो उठा।

केशवदास के बहुत बुझाने पर भी जब रामशाह युद्ध करने से विरत न हुआ, तो महाराज को भी सेना-सजा करनी पड़ी। इसी बीच सूबेदार अब्दुल्ला खां के अधिनायकत्व में भेजी गई शाही फौज ओरछा पर चढ़ आई। इन्द्रजीत और राव भूपाल के सेनापतित्व में रामशाह की सेना ने डटकर उससे लोहा लिया। परिस्थिति यह कि, मुग़ल सेना उखड़ने-उखड़ने पर आ गई कि इसी समय जहांगीर के पक्ष में वीरसिंह देव की कुमक आ पहुँची। उनके नगाड़े के नाद ने, शाही सेना के पस्त हौसलों में नया खून भर दिया। वह द्विगुण उत्साह से लड़ने लगी। रक्तपात ने प्रवाह का रूप ले लिया। इन्द्रजीत घायल होकर मूर्छित उठ गये और राव भूपाल भी उखड़ गये। कुल नाश की सम्भावना मूर्त होती जान पड़ी। अतः महाराज ने रामशाह पर सन्धि का प्रस्ताव भेजा। परन्तु रामशाह, महाराज से तो मिले नहीं, अब्दुल्ला खां से मिले और वे बंदी बना लिये गये।

महाराज के सामने अब रामशाह थे। घरेलू समस्याओं का औपचारिक समाधान कर, वे उनकी मुक्ति के लिये आगरा में जहाँगीर से मिले, जहाँगीर ने दोनों के बीच में पड़कर, दोनों का वैमन्य शान्त करवाया। मधुकरशाह का समूचा राज्य उसने महाराज को दिलाया और चन्देरी तथा बानपुर का राज्य रामशाह को। दोनों अपने-अपने स्थानों को लौट आये।

महाराज वीरसिंह देव जहाँगीर के कृपा भुक्त रहे अथवा जहाँगीर उनका ? यह सूक्ष्मता से ही समझा जा सकेगा। महावत खाँ की क़ैद से जहाँगीर की मुक्ति में भी महाराज का प्रमुख हाथ रहा। अपनी शक्ति और प्रतिभा-प्रभूतता द्वारा वे बहुत ऊँचे उठे। उनके राज्य की आय दो करोड़ पर जा कर ठहरी थी। उसमें ८१ परगने और १½ लाख गाँव थे। उन्होंने ओरछा को भी अभिनव रूप दिया, उसका नाम जहाँगीरपुर रक्खा। 'जहाँगीर महल' नाम का एक सुन्दर प्रासाद भी उन्होंने बनवाया।

वह न केवल शूरवीर थे, धर्मवीर और दानवीर भी थे। ओरछा का चतुर्भुज जी का मन्दिर उन्हीं की निष्ठा का प्रारूप है। मथुरा में उन्होंने ८१ मन सोने का तुलादान भी किया था (१६२४ ई०)!

तीन रानियों से उन्हें १२ पुत्र हुये। जिनमें जुझारसिंह और पहाड़सिंह राजा हुये, शेषों को जागीरें मिलीं।§ उनके साथ सदा स्मरणीय रहेंगे उनकी

---

§धँधेरा रानी अमृत कुँअरि से उत्पन्न नरहरदास को धमौनी, तुलसीदास को गड़ू, वेनीदास को पहारी की, दूसरी रानी गुमानकुँअरि से उत्पन्न दीवान

ख्याति में चार चाँद चमकाने वाले उनके अत्यन्त ही दुरदर्शी मन्त्रि श्रेष्ठ कन्हरदास पंडित और सेनापति यादवराव गौड़ के सुयोग्पुत्र कृपारामसिंह।

बुन्देला इतिहास की स्थूल घटनाओं की झलक देखते हुये हमने चम्पत राय को पहले-पहले, राजसिंह द्वारा बड़ौनी-दहन के विरोध में हुई महाराज वीरसिंह देव की प्रतिक्रिया में उनके साथी बने, राजसिंह पर रात में अभियान करते देखा है और देखा है उन वीरसिंह देव के प्रमुख विश्वासपात्र और हौसलेदार वीर सरदार के रूप में, जो स्वयं बड़ौनी के जागीरदार—सरदार, थे; न कि ओरछा के राजा। ये दोनों ही वीर-प्रवर, राजा-परम्परा से दूर, परन्तु राज-सत्ता-स्थापना के भावों से भर-पूर-से देख पड़े। ओरछा की तत्कालीन राजा-परम्परा से वीरसिंह देव तो बहुत नजदीकी थे, वे रामशाह (ओरछा नरेश) के सहोदर थे। परन्तु चम्पतराय कितनी दूर से हैं ? यह देखना है।

महाराज रण रुद्र प्रताप देव की चर्चा की जा चुकी है। राव उदयाजीत उनके तीसरे पुत्र थे और महेवा के जागीरदार थे। इनके छः पुत्रों में प्रेमचन्द ज्येष्ठ थे। न केवल आयु से, पराक्रम और गुणों से भी। वे मुसलमानों से कितनी ही गरबीलो टक्करें लेते और विजयी होते रहे। इन्हें तीन पुत्र थे—कुँअरसिंह, मानशाह और भगवानदास। कुँअरसिंह ने समरोहा बसाया और मानशाह शाहपुर में रहे। भगवानदास न केवल विद्वान थे वीर और तेजस्वी भी थे। इनके पुत्र कुलनन्दन भी परमोदार, दयालु, धर्मनिष्ट एवं पिता तुल्य ही सद्गुण सम्पन्न थे ! चम्पतराय कुलनन्दन के सबसे सबसे छोटे बेटे थे। खङ्गराय, चन्दनराय, सुजानराय और भीमराय, ये चम्पतराय के सहोदर थे।

अकबर के शासन काल की सन्ध्या होते-होते, चम्पतराय उदय हो चुके थे और उसकी भावी तीन पीढ़ियों तक बराबर चमकते रहे। ये महेवा के छोटे से जागीरदार थे। इस जागीर से उनको केवल ३५०) वार्षिक आय होती थी, लेकिन दैवी गुणों की आय उनको प्रभूत प्राप्त थी। वीरता ने जैसे मात्र उन्हीं का वरण किया था। मुसलमानों का शासन ही नहीं, उनसे किसी प्रकार का सम्पर्क भी उन्हें सहन न था। वीरसिंह देव से इस मामले में उनका निरन्तर वैमत्य रहा। जहाँगीर तक तो वीरसिंह देव ने इनकी भावनाओं पर ध्यान नहीं दिया, किन्तु शाहजहाँ के समय में इनके अनुरोध से प्रभावित होकर उन्होंने उसे कर देना बन्द कर दिया और ओरछा की स्वतन्त्रता उद्घोषित कर दी।

हरदौल को बड़गाँव, भगवन्तराय को दतिया, चन्द्रभान को जैतपुर और कौंच की, तीसरी धँधेरा रानी पंचमकुँअरि से उत्पन्न बाघाराज को रारौली, माधव सिंह को खरगापुर की जागीर मिली। परमानन्द ओरछे में ही रहे।

शाहजहाँ ने बुन्देलों की इस चुनौती को समझने के लिये एक बड़ी सेना के साथ बाकी खाँ को भेजा। परन्तु बाक़ी खाँ को कुछ भी बाक़ी न उठा धरने पर भी हार के सिवा और कुछ ले जाने को न मिला। अन्ततः वापसी में, खीझकर, शिकार खेले लौटे आते हुए चम्पतराय के ज्येष्ठ पुत्र सारबाहन पर उसने अपनी सेना का ज़ोर झोंक दिया। सारवाहन यद्यपि चौदह वर्ष का बालक था, खेत रह गया, परन्तु बुन्देला रक्त का ठीक से कड़वा परिचय देते हुये उसने मुगल सेना के अच्छी तरह से छक्के छुड़ा दिये।

बाक़ी खाँ की पराजय पर खड़े होकर शाहजहाँ ने अपने भविष्य की क्षितिज पर एक गहरी निगाह फेंकी। बुन्देलखण्ड का राजा अपने छोटे-छोटे जागीरदारों की सेना लेकर भारत-सम्राट की सैन्य शक्ति के दाँत देख ले ! स्पष्टतया उसे क्षितिज पर ख़तरे के विरल मेघखंड दिखाई पड़े। उसने मंजे हाथों के सेनपों को लेकर स्वयं ओरछा पर चढ़ाई की (१६२८ ई०)। ओरछा के रखवाले वही पुराने बुन्देले थे और थे अपने आत्मविश्वास से लबालब भरे हुए। नेतृत्व था चम्पतराय का। मुकाबला हुआ। चम्पतराय की अकुंठित विलक्षण बुद्धि और अप्रतिहतशौर्य ने शाहजहाँ की साठ हजार सेना का मुँह मोड़ दिया। सेना लौट गई और स्वतंन्त्रता के मस्ताने अपनी साधना का गौरव-रस पीने और झूमने लगे।

इस बार शाहजहाँ स्वयं युद्ध से विजित फिरा था अतः उसकी प्रति क्रिया भी भयंकर होनी थी। उसके सभी प्रमुख यशोलब्ध सेनप-बटुर आये, आगरा का मुहब्बत खाँ, दक्खिन का खानजहाँ, इलाहाबाद का अब्दुल्ला खाँ बुलाया गया। सीमान्त प्रदेशों की भी सेना बुला ली गई। साम्राज्य की समूची शौर्य-शक्ति की आँधी उठ आई। बुन्देलों ने इस बृहत्तम सेना का, न तो खुले मैदान में सामना किया; न आत्मसमर्पण ही और न सन्धि ही। वे अपनी थोड़ी सी सेना का एक भाग गढ़ों के भीतर और शेष मुगलों के आक्रमण-पथ की पार्श्वस्थ संकुचित घाटियों में लगाकर युद्ध की प्रतीक्षा करने लगे। कितने ही दिन बिना युद्ध के बीत गये। एक लम्बे समय तक इतनी विशाल वाहिनी वहाँ रख सकना मुगलों के लिये संभव न था ! फिर, न कुछ से बुन्देलों के लिये, इस महान आयोजन का अर्थ भी बुद्धि में नहीं समाया। अतः बुन्देलों भर के लिये रख कर, शेष सेना लौटा दी गई। बुन्देलों के लिए यही अवसर था ! चम्पतराय टूट पड़ा। उसकी सेना चारों ओर से—वेतवा और विन्ध्य के गोप्य गर्त गह्वरों से बाहर निकल-निकल कर शत्रु को काटने-छाटने लगी। मुगलों के प्रशस्त बलाध्यक्ष-शहबाज़खाँ, बाक़ी खाँ, उनकी तलवारों की धारों

में बहने लगे। इन सेनापतियों के मरते ही सेना भाग खड़ी हुई।

इन्हीं दिनों बुन्देलों ने सिरौंज पर अधिकार कर लिया और भेलसा तथा उज्जैन लूट कर बहुत-सा धन बटोर लाये। शाहजहाँ ने फिर से, बुन्देलों को दबाने का क़दम उठाया। इस बार मुहम्मद सुभान, वली बहादुरख़ाँ, अब्दुल्लाख़ाँ, और नौरोज़ ख़ाँ सेनापतियों ने, समूचीतैयारी के साथ बुन्देल खंड को धूलिसात् कर डालने के लिये आक्रमण किया। बुन्देले भी अपनी समवेत शक्ति के साथ कठोर प्रतिरोध के लिये अड़ गये। यह स्थिति चल ही रही थी कि शाहजहाँ ने बुन्देलों से लड़ने में नहीं, सन्धि में, साम्राज्य का मंगल सोचा और सन्धि की चर्चा आरम्भ कर दी।

बुन्देले स्व-गौरव और सम्मान के लिये लड़ तो रहे थे, लेकिन उनकी अन्तःस्थिति दुर्बल हो आई थी। युद्ध चलाने के लिये उनके पास पैसा समाप्त हो आया था। बुन्देल खण्ड भी अकाल से छटपटा रहा था। महाराज वीरसिंहदेव भी इन्हीं दिनों उनमें से उठ गये थे। शाहजहाँ का सन्धि-प्रस्ताव इस समय उन्हें, अपने सम्मान की, दैव द्वारा हुई अकल्पित रक्षा प्रतीत हुआ। उन्होंने उसे स्वीकार कर लिया। सन्धि के फलस्वरूप शाहजहाँ ने वीरसिंहदेव के पुत्र जुझार सिंह को ओरछे का राजा स्वीकार किया और बुन्देला-शक्ति को अपनी शक्ति बनाने के विचार से, चन्देरी के राजा भारत शाह (रामशाह का पौत्र, संग्रामशाह का पुत्र) को, ओरछा नरेश जुझारसिंह को, उनके भाई पहाड़सिंह को, और धमौनी के राजा नरहरदास को चार हजारी मनसब दे दिये। एक हजारी मनसब जुझारसिंह के पुत्र विक्रमासिंह को भी दिया और बुन्देला सेना के प्रमुख उन्नायक चम्पतराय के शौर्य की बहुत बहुत अभ्यर्थना और प्रशंसा की और उन्हें कोंच (कालपी) का इलाक़ा तो दिया ही, शाही दरबार के प्रमुख अमीरों में उनका स्थान भी स्वीकार किया। इस प्रकार बुन्देलों की सद्भावना स्वानुकूल बनाने में शाहजहाँ सफल ही नहीं हो गया, वह उनके आन्तरिक मामलों में हाथ डालने के लिये द्वार भी पा गया!

जुझारसिंह की रानी अपने देवर हरदौल को बेटे की तरह चाहती थी और हरदौल भी उसमें मातृश्रद्धा रखते थे। परन्तु जुझारसिंह बड़े शक्की मिज़ाज थे। सन्देह के चश्मे से उन्होंने इन दोनों के सात्विक किन्तु गहरे स्नेह में न जाने कितना न देख लिया! रानी के सामने अपनी पवित्रता-प्रमाणन का एक मात्र मार्ग—हरदौल को अपने हाथों, भोजन में विष-देदे, उन्होने रक्खा। न चाह कर भी उसे अपने प्रीतिपात्र, पूत चरित हरदौल को विषाक्त भोजन परोसना पड़ा। परन्तु वह स्नेह-कातरा, इस गोपन को हरदौल से छिपा न

सकी। तो भी, हरदौल ने प्रसन्न मन से भाभी के परोसे विष की कसौटी पर कसकर अपना खरा चरित्र जगमगा दिया। वैमात्र बन्धु के सन्देह पर वे बलिदान होगये (१६२८)। उनके बलिदान के सम्मान में बुन्देलखंड के गाँव-गाँव में ही नहीं, बुन्देलखंड के बाहर भी, अब भी, हरदौललाल के चत्वर (स्मारक) बने मिलते हैं और लोक गीतों में उनकी गाथा आदर से गाई जाती है।

शाहजहाँ को जब पता चला तो विष देने की इस घटना को कारण बना, उसने जुझारसिंह पर, महावतखाँ को सेना देकर, चढ़ाई कर दी। नरवर का राजा रामदास, दतिया का भगवन्तराय, चन्देरी का भारतशाह, कालपी का सूबेदार अब्दुल्लाखाँ, एरछके जागीरदार पहाड़सिंह और खानजहाँ भी अपनी-अपनी सेनाओं के साथ, शाही सेना की सहायता में आये। जुझारसिंह ने अपना बहुत सा इलाका देकर, सन्धि कर ली और महावतखाँ के साथ दक्खिन की चढ़ाई पर चले गये। पहाड़सिंह को शाही डंका देकर सम्मानित किया गया (१६२८ ई०)।

ई० सन् १६३३ में जुझारसिंह ने गोंड राजा प्रेमशाह और उसके मन्त्री जयदेव वाजपेयी को मारकर चौरागढ़ का दुर्ग ले लिया। शाहजहाँ ने प्रेमशाह के पुत्र हृदयशाह का पक्ष लेकर, ओरछा पर चढ़कर जुझारसिंह का पीछा किया (१६३४ ई०)। धामौनी, चौरागढ़, चाँदा होता हुआ वह दक्खिन के जंगलो में जा छिपा, जहाँ गोंडो ने उसे और उसके पुत्र विक्रमाजीत, दोनों को निर्दयतापूर्वक मार डाला। दोनों के सिर, खानजहाँ ने काट कर, शाहजहाँ को भेज दिये।

जुझारसिंह के मारे जाने पर, शाहजहाँ ने देवीसिंह (वीरसिंहदेव का भतीजा) को, जिसने ओरछा की चढ़ाई (१६३४ ई०) में शाही सेना का साथ दिया था, राजा बनाया। परन्तु वह शान्ति स्थापना में अक्षम रहा। तब दो वर्ष बाद इसे चंदेरी वापस कर, जुझारसिंह के छोटे पुत्र पृथ्वीराज को गद्दी दी गई। ऐसे समय, जब कि चम्पतराय जैसा दुर्दान्त योद्धा, जिसके टूटते ही शाही सेना की सफें बिखर जाती थीं और जो ओरछा को मुँह फैलाये, निगल जाने को उद्ग्रीव था, पृथ्वीराज जैसा बच्चा राजा कर ही क्या सकता था? व्यवस्था उसके वश के बाहर की होगई। राज्य में अराजकता भर गई। अतः बन्दी कर वह गवालियर भेज दिया गया।

पृथ्वीराज के बन्दी होते ही; चम्पतराय, ओरछा पर आ जमा। और शाही सेना से टक्करें लेने लगा। शहबाज़खाँ और फ़तेहखां के नेतृत्व में आई विशाल

शाही सेना के प्रवाह को उसने, तत्काल उलटा मोड़ दिया और सिरौंज, भेलसा उज्जैन- धार और धमौनी लूटता-खूँदता गवालियर पर छा गया। नर्मदा से चम्बल तक का सारा प्रदेश उसने लूट लिया। चम्पतराय के आतंक से तंग आकर शाहजहाँ ने, खानजहाँ, सैयद मुहम्मद, बहादुर खाँ और अब्दुल्ला खाँ के अधिनायकत्व में सेना भेजी। लेकिन चंपतराय की लौह शक्ति के सामने उद्ग्रीव खड़ा रह सकना उसके बस का न था। लौट पड़ी। चार वर्ष तक चम्पतराय से जूझते रहने के उपरान्त ऊब कर ई० सन् १६४१ में शाहजहाँ ने ओरछा पहाड़सिंह को दे दिया। उसने पहाड़ सिंह को पाँच हजारी मनसब और दो हजार सवार रखने का अधिकार भी प्रदान किया।

चम्पतराय पहाड़सिंह का सम्मान करते थे। वे इस समय उनसे मिलने के लिये जतारा आये और उनके सम्मान्य अतिथि बने। किन्तु पहाड़सिंह के परम विश्वस्त मन्त्री नसीमुद्दौला खां ने, जो चम्पतराय के यवन विरोधी आंदोलन का विद्वेष्टा था, बहुत ऊँचा नीचा सुझाकर पहाड़सिंह का मन उनसे फेर दिया।

चम्पतराय यद्यपि पहाड़सिंह का सम्मान करते थे, उनका नेतृत्व भी उन्हें शिरोधार्य था, किन्तु उनकी अपनी बुद्धिचातुरी और शूरता-वीरता सर्व विदित थी। अपने इन गुणों से वे बुन्देलों में एकाकी सम्मान-भुक्त थे। पहाड़सिंह स्वयं भी उनका बहुत ख्याल रखते थे। उनके इन गुणों ने उन्हें पहाड़सिंह पर छा दिया! पहाड़सिंह के मन के किसी एकान्त में उनके लिये ईर्ष्या बढ़ उठी नसीमुद्दौला ने पहाड़सिंह की इसी कमजोरी का लाभ उठाया। उसने चम्पत राय को विष दे देने को बात पर उनको राजीकर लिया।

पहाड़सिंह के आमन्त्रण पर, चम्पतराय अपने भाई भीम के साथ ओरछा गये। बड़ी आवभगत और सत्कार हुआ। किन्तु भोजन पर बैठे भीम को न जाने कैसे सन्देह हो गया, जो उन्होंने बड़े कौशल से और परिस्थिति न बिगड़ने दे कर, चम्पतराय के थाल से अपना थाल बदल लिया और थोड़ी ही देर में अपनी आहुति देकर पहाड़सिंह का मंसूबा मेट गये।

बन्धु-प्रेम की माला में अपना दगदगाता सुमेर पिरोकर भीम स्वर्गीय हो गये। इस अशोभन घटना से ओरछाराज्य और चम्पतराय के सद्भावों में गहरी दरार पड़ गई। अब पहाड़सिंह चंपतराय के अस्तित्व के पीछे कुत्सित प्रयत्न लेकर पड़ गये।

ई० सन् १६४५ और १६४८ में, दो बार, पहाड़सिंह ने कन्दहार जा कर ईरान के शाह के बिरुद्ध, शाहजहाँ के लिये युद्ध लड़ा था, अतः सरदार खां

से चौरागढ़ का प्रबन्ध न बनते देख, उसने यह जागीर पहाड़ सिंह को दे दी और उनका एक हजारी मनसब और बढ़ा दिया—पहाड़ सिंह को राजकीय कृपा और सम्मान दोनों ही प्राप्त हुए।

पहाड़सिंह की राज्य-सीमा गोंडवाने से जुड़ी थी। गोंडवाने में गायें हलों में जोती जाती थीं। गो भक्त होने के कारण गायों के प्रति यह असद् व्यवहार पहाड़सिंह को बर्दाश्त न हुआ। कहा जाता है कि वे एक चारण की कविता* से प्रभावित भी हुए थे। अतः उन्होंने गोंडवाने के राजा हृदयशाह और उसके शरण्य रीवाँ के बघेल राजा अनूपसिंह पर चढ़ाई कर दी। वे उन्हें दौलताबाद तक खदेड़ते, बढ़े गये। उनके रेला से बच निकलते हुए दोनों राजे जंगल में भाग गये। वापसी में पहाड़सिंह ने रीवाँ लूटा। वे एक बार ई० सन् १६५२ में औरंगजेब के साथ भी, कन्दहार की चढ़ाई पर गये थे।

विष देने की घटना के बाद से चम्पतराय और पहाड़सिंह में भारी शत्रुता हो गई थी। चम्पतराय के विनाश के लिये पहाड़सिंह जघन्य उपायों का अवलम्ब लेने में भी नहीं हिचका किये। उनके नये-नये षड्यन्त्र सर्जित होते रहे। अतएव चम्पतराय ने अब शाहजहाँ से सन्धि कर लेनी अच्छी समझी। उन से ऊबा-ऊबा शाहजहाँ भी यह चाह रहा था। उसने शाही दरबार में आने पर चम्पतराय का स्वागत और उनसे राजोचित भद्रव्यवहार किया और पाँच हजारी मनसब देकर उसने चम्पतराय से सन्धि कर ली।

शाहजहाँ के सामने इन दिनों कन्दहार का प्रश्न था। वह दाराशिकोह को भेजकर, वहाँ शान्ति स्थापना की सोच ही रहा था किचंपतराय की बहादुरी का इस अवसर पर लाभ उठाने का अच्छा योग पा गया। दारा के साथ चम्पतराय कन्दहार गये और प्राण होम कर युद्ध लड़ा। वर्षों की समस्या का उन्होंने निबटारा कर दिया (१६५३ ई०)। जैसे ही विजय पाकर वे लौटे, शाहजहाँ ने उन्हें कोंच कालपी की जागीर और १२ हजारी मनसब देकर बहुत-

*पड़ी हैं पिसाचन बन्ध, जोतत हैं आठों जाम
सुधि हू न लेत पापी तृन हू के खाने की,
कान्ह जू की कामधेनु करतीं विलाप रोय
कपिला की जाति कहूँ भाग नहीं जाने की।
रोज उठ करत अर्ज भोर भये भानु जू सों
फौज चढ़ आवै केसोराव के घराने की,
वीरसिंह जू के वंश-प्रबल पहाड़सिंह !
तेरी बाट जोहती हैं गौयें गोंडवाने की।

बहुत सम्मानित किया। इस प्रकार स्वातन्त्र्य-संग्राम का लड़ाका वीर सेनानी, पहाड़सिंह की दुरभिसन्धियों से बचने के फेर में शाही दरबार का पार्षद हो गया। उसके इस परिवर्तन को उसकी वीर नारी उत्साह से स्वीकार न कर सकी। वह उन्हें इससे विरत हुआ देखना चाहती रही। अन्ततः उसके विराग और पहाड़सिंह की पर्दे की आड़ में दारा से होती रहने वाली साँठ-गाठों के फल स्वरूप चम्पतराय ने मुगल दरबार में ही दारा को बुरी तरह फटकारा और दरबार छोड़ चले आये। चंपतराय की जागीर पहाड़सिंह को देदी गई।

चम्पतराय की जागीर तो पहाड़सिंह पा गये, किन्तु उनके वे गुण, जिनसे जागीरें उनकी बन जाती थीं, उनमें ही बने रहे, ई० सन् १६५७ में शाहजहाँ की बीमारी के समाचार पर उसके लड़कों ने तख्त के लिये लड़ना आरम्भ कर दिया। दक्खिन से औरङ्गजेब आया और गुजरात से मुराद। दारा ने अपने बेटे सुलेमान शिकोह को भेजकर बंगाल से आये शुजा को, सबसे पहले शिकिश्त दी, फिर औरंगजेब की रोक के लिये धौलपुर के पास वाला चम्बल का घाट रोक दिया। औरंगजेब अत्यन्त स्वार्थ पटु और कपटाचारी था। मुराद को साम्राज्य का प्रलोभ देकर, अपनी ओर ले लिया। अब्दुल्लाखाँ को भेजकर उसने चम्पतराय की कुमक पा ली। चम्पतराय, दारा को, उसके पहाड़ सिंह से प्रभावित हो जाने का बदला देना ही चाहते थे। उन्होंने मुख्य घाट को छोड़ दूसरे घाट से नदी पार की और युद्ध-कला-सुप्रवीण बूँदी नरेश छत्र-शाल हाड़ा के नेतृत्व में आई दारा की सेना से, सामोगढ़ में डटकर मोर्चा लिया (१६५८ ई०)। इस युद्ध में चम्पतराय के शौर्य और युद्ध प्रज्ञा के चरणों में हाड़ा को झुक जाना पड़ा। आगरे का मयूर सिंहासन औरंगजेब के लिये उत्कंठित हो उठा।

जैसा कि बताया जा चुका है औरंगजेब बेहद मक्कार, परले दरजे का दगा-बाज़ और कठोर सादगी पालन करने वाले कट्टर मुसलमान साधु के आडम्बर में वे मिसाल धूर्त था। शराब पिला, उसने मुराद को गवालियर के किले का बन्दी बना दिया और फिर इसी कोटि के व्यवहार से, दारा को ही नहीं, अपने पिता शाहजहाँ को भी उसने सम्मानित करने में कोई भूल नहीं होने दी!

औरंगजेब चम्पतराय की बदौलत सम्राट हुआ था (१६५८ ई०)! अतएव उसने उनका बहुत आभार माना। ओरछे से यमुना तक का सारा प्रदेश उसने चंपतराय को जागीर में दे डाला। वे दिल्ली दरबार के उमराव बनाये गये और १२ हजारी मनसबदार कहलाये।

किन्तु चंपतराय का जन्म ऐश्वर्यों की सन्निधि में रहने के लिये नहीं हुआ

था। सुयश-सिन्धु की प्रशस्त ऊर्मियों में इठलाने और रंगरेलियाँ करने के लिये ही वे जनमे थे। कुछ ही दिन औरंगजेब के कृपा पात्र रह, घटनात् वे, एक घोड़े के पीछे, जिसे उन्होंने युद्ध में जीता था; अपनी रानी और बादशाह के बीच, बात बढ़ जाने के फलस्वरूप औरंगजेब से खिंच गये। जागीर और शाही सनदें फेर दीं और स्पष्ट शब्दों में उसकी कृपा में रहने से इनकार कर दिया।

चंपतराय स्वाधीन चेता और गजब की सूझ-बूझ वाला लड़ाका था। संयोग कि उसकी वीर पत्नी उससे भी बहुत आगे थी। जैसे ही वह बूढ़ा बाघ दिल्ली की दासता के कटघरे से निकला और जैसे ही उसने बुन्देलखंड की स्वतन्त्रता की दहाड़ लगाई, स्वतंत्रता के दीवाने बुन्देले उसकी सेना में टूट पड़े। अभियान आरंभ हो गये। एक पर एक किला जीता जाने लगा। उसने एरछके किले को जीत कर उसे अपना ठहराव बनाया।

इधर जब सिंहासन को पूर्ण निष्कंटक कर चुका, तब औरंगजेब बुंदेलखंड की ओर प्रवृत्त हुआ। उस नाबीना दीनदार (!) को एक हिन्दू का यह उत्कर्ष सहन न हुआ। परन्तु चम्पतराय के कौशल और शौर्य की नस-नस उसकी परख में थी! कोई मुसलमान सेनप उससे पार न पा सकेगा—वह जानता था। अतः शुभ करण बुन्देला के सेनापतित्व में, जिसे उसनें बुंदेलखंड का शाही सूबेदार नियुक्त किया था, उसने भारी सेना भेजी। चम्पतराय ने इस सेना से कितने ही युद्ध लड़े। औरंगजेब स्वयं भी सेना लेकर बुन्देलखंड में घुसा। परन्तु चम्पतराय से टकरा टकरा कर भी, उसे धर पकड़ने में विफल रहा। बुन्देलखंड में बुन्देलों के बिना शाही सेना कुछ कर भी नहीं सकती थी, अतः अन्ततःशाही सेना में बुन्देले भरे गये। उनकी सहायता और मार्ग दर्शन ने चम्पतराय के सभी गुप्त आवास और गुह्य मार्ग प्रकट कर दिये। चम्पतराय भी अब जरा जर्जर हो आये थे, उनकी सैन्य शक्ति भी क्षीण हो आई थी, पहाड़सिंह की विधवा रानी हीरादेवी ने भी, इसी समय उनसे अपने पति का बैर-शोधन भरा। उसने उनके मित्र और सरदार सुजानराय को, बेदपुर में धोखे से मरवा डाला। इस सरदार के मरने से चम्पकराय को असह्य दुःख तो हुआ हीं, उनके लक्ष्य का आधार भी समाप्त हो गया।

ये दिन चंपतराय के बुढ़ापे, बीमारी और मुसीबत के थे। उनके इन युद्धों में उनके लायक बेटे बड़े काम आये। इस समय उन्हें सेना की जरूरत थी। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये, बीमारी में ही वे बेरछा से जटवारा होते हुए सहरा के जागीरदार और अपने सु-प्रगाढ़ मित्र इन्द्रमणि धंधेरे के पास

जा रहे थे कि रानी हीरादेवी ने दलेलदौआ के साथ १६ हजार सवार और अपना पुत्र इन्द्रमणि भेजकर, उन का पीछा करवाया। सहरा पहुँचने पर दुर्भाग्य, कि इन्द्रमणि नहीं मिले। तब उन्होंने अपने पुत्र छत्रसाल को, उसके बहनोई थानसिंह के पास भेजा। पर थानसिंह भी न मिल सके। वे छत्रसाल के चले आने पर, रात में घर आये और बहिन ने स्वागत सत्कार तो दूर, बात भी न बूझी।

शत्रु के घेरे से किसी प्रकार बच निकल कर, अपनी रानी लाल कुँवरि‡ (सारन्धा) के साथ वे मोरन गाँव जा रहे थे कि मार्ग में शत्रुओं ने उन्हें घेर लिया और यहीं इस वीर दम्पति के जीवन आ सूर्यास्त हुआ (१६६१ ई०)।

चम्पतराय बहुत मामूली-से जागीरदार थे। राव उदयाजीत को अपने पिता रण रुद्रप्रताप से १२०००) वार्षिक आय की जागीर मिली थी! पुत्रों-पौत्रों में बँटती-बँटाती यह चम्पतराय के हक़ में कुल ३५०) की आ पड़ी थी। इस न कुछ-सी स्थिति से अपने असाधारण पराक्रम और सूझ-बूझ से बढ़ते-बढ़ते वे इतिहास गगन के देदीप्यमान सितारे बन, चमक उठे।

चम्पतराय की मृत्यु के समय उनका छोटा-पुत्र छत्रसाल केवल १५ वर्ष* का था। उसमें अपने पिता की कर्मठता और अपने जेठे भाई सार बाहन की प्रतिभा-शूरता बचपन में ही उफना उठी थी। उसने माता के गर्भ के अपने दिन, लड़ाइयों में पूरे किये थे। जन्म मोर पहाड़ी के जंगल में पाया था। संसार में आते ही शहनाई के मधुर शब्द नहीं, उसने बन्दूकों तोपों के गड़-गड़ाटे और 'धरो-मारो-पकड़ो' के कोलाहल सुने थे। वह युद्ध और प्रकृति की गोद में जन्मा पला और बढ़ा था। युद्ध में की रक्त-सरिता और विद्रूप शवों को देखकर, वह बचपन में ही किलकार उठता था। बन्दूकों तोपों के धड़ाके, उसमें भय नहीं, कुतूहल बढ़ाते थे। सुनकर वह उधर ही दौड़ पड़ता था। १० वर्ष का होते-होते बरछी तलवार और दूसरे-दूसरे शस्त्रास्त्रों के अचूक निशाना मारने और दौड़ते घोड़े पर से शिकार खेलने में भी वह पटु हो गया था।

माता-पिता का मरण वृत्त छत्र साल ने सहरा में सुना और धैर्य के साथ सुना। साथ ही मस्तिष्क में कल्पना का ताना बाना फैलाकर एक लक्ष्य भी बुन लिया। वे अपने काका सुजानराय से मिले। काका से प्रेम और सत्कार

‡ श्री जयचन्द्र विद्यालंकार जी के इतिहास प्रवेश पर्व ६, अध्याय ५, अनुच्छेद २ में 'काली कुमारी' नाम से उल्लेख्य।

* ११ वर्ष (श्री जयचन्द्रजी वि० इ० प्र० पर्व ६, अ० ५,

तो पाया परन्तु मन की बात नहीं पाई। तब देवगढ़ में अपने भाई अंगदराय से मिले। पिछले युद्धों में ये सब भाई अलग-थलग हो गये थे। यवनों से बुन्देलखंड की मुक्ति पर अंगदराय का मतैक्य वे पा गये। किन्तु सेना बिना कैसे क्या हो? माता के गहनों को बेचकर सेना जुटाने के निश्चय पर दोनों भाई देवल बारा गाँव में, जहाँ गहने थे, गये और जेवर बेचकर कुछ जवानों की टुकड़ी तैयार की§। इसी समय मुग़ल राज्य की ओर से बहादुरखाँ, राजा कूरमकल्ल (कोकशाह) से देवगढ़ (छिंदवाड़ा) का दुर्ग छीनने जा रहा था। बहादुरखाँ, चम्पतराय का पाग-बदल मित्र था। छत्रसाल-बन्धु ने युद्ध में उसे सहायता दी और जब कि कूरमकल्ल की राजपूत सेना, मुगल सेना को आगे बढ़ने न दे रही थी, छत्रसाल ने कुछेक सैनिकों के साथ शत्रु को मारते काटते आगे बढ़ कर किले के ढाल की रस्सी पकड़ ली। अब मुगल सेना में भी उत्साह का संचरण हो उठा और भारी मार-काट मचाकर किला ले लिया। इस युद्ध में जिस समय छत्रसाल आगे बढ़ गये थे, एक राजपूत वीर ने उनकी ग्रीवा पर तलवार चलादी। इतने जोर की कि बिछुआ न पहना होता तो गर्दन न होती। आहत होकर वे वहीं मूर्छित हो गये। उनका प्यारा घोड़ा उनका शरीर रखाये रहा। और अपने सैनिकों द्वारा उठा लाये जाकर कुछ दिन में वे स्वस्थ हो पाये।

इस युद्ध में, जो उन्हीं के शौर्य से जीता गया, उन्हें प्राण-संकट की स्थिति तो प्राप्त हो गई किन्तु कुछ मिला नहीं, जब कि बहादुरखाँ को दिल्ली की मनसबदारी प्राप्त हुई। औरंगजेब की धर्मान्ध आँखें एक हिन्दू का सम्मान देख भी कैसे सकती थीं? उसने हिन्दुओं पर जज़िया लगाया, काशी के ब्राह्मणों का वेदाभ्यास बन्द कराया, मन्दिरों को मसजिदों में बदलवाया, मूर्तियों को पैरों से कुचलवाया तोड़वाया और त्योहारों पर के विमानों का निकलना बन्द करवाया, हिन्दुओं को मुसलमान बनाने के लिये उसकी तलवार और राजकीय सम्मान निरन्तर खुले रहते थे। हिन्दू प्रजा उससे संत्रस्त थी। छत्रसाल ने इस हल को अपने हाथ में लेने का निश्चय और संकल्प लिया।

दक्खिन से शिवाजी की धर्मनिष्ठा और स्वातन्त्र्य-चिन्तन की भावनायें उठ आकर, समाभिप्रायी छत्रसाल में भरने लगीं। वे उनसे पूना मिलने गये। दोनों-दोनों ही की कीर्ति से परिचित और मिलने के इच्छुक थे, अतः मिलकर कितने न प्रसन्न हुये! यह अनिर्वाच्य है। शिवाजी वयः ज्येष्ठ थे।

§ ५ सवारों, २५ पियादों की सेना (इति० प्र,० पर्व ६ अध्या० ५, अनु० १३)

उन्होंने अपना राज्य भी जमा लिया था, छत्रसाल में स्वतन्त्र-प्रियता, स्वधर्म निष्ठा, चारित्रिक प्रौढ़ता और अपने ही तुल्य अति साहसिकता देखकर उनकी छाती फूल गई और आनन्द-विभोर होकर उन्होंने बड़े प्रेम से उनका आलिंगन कर लिया और स्नेह-भाव से उन्हें उपदिष्ट किया।*

शिवाजी से अनुप्राणन एवं अपने गुरु श्री प्राणनाथ जी से आशीर्वाद और स्फुरणा पाकर छत्रसाल ने बुन्देलों का सगठन आरम्भ किया। वे शुभ-करण बुंदेला से भी मिले, उसे औरंगजेब से विरक्त करना चाहा। किन्तु वह तो मुगलों का क्रीत था! उसने छत्रसाल को ही दिल्ली का निष्ठालु बनाना चाहा और ऐसा न होने पर उसने उन्हें राज-विद्रोही समझ कर, तुरन्त अपने यहाँ से बिदाकर दिया। छत्रसाल औरंगाबाद जाकर, अपने चचेरे भाई बल दिवान से मिले और अपना ध्येय बताया। बल दिवान ने उनके विचारों पर न केवल प्रसन्नता प्रकट की, बुलाने पर, कहीं पर भी अपनी सम्पूर्ण सम्भव सहायता देने का वचन भी दिया। तब छत्र शाल ने ई० सन् १६७१ में मोर पहाड़ी पर सैन्य-समायोजन आरम्भ कर दिया।

औरंगज़ेब ने ख़बर पाते ही, बुन्देलों के दमनार्थ गवालियर के सूबेदार फ़िदाई खाँ को आदेश भेजा—"बुन्देलों का उत्पात शान्त करो, बलात् मुसलमान बनालो। जो न बने; जान से मार दो। मन्दिरों-मूर्तियों का नाम-ओ-निशान न रहने दो।" फ़िदाईखाँ ने इस हुक्म की पाबन्दी में सहायता देने के

* वीर शिरोमणे! अपने शत्रु का विनाश करो और विजय पाओ। स्वदेश पर अधिकार कर फिर से अपना राज्य जमाओ। न शाही सेना की परवाह करो, न कपटी तुर्कों का विश्वास। उनका विध्वंस करो। जब भी वे तुम पर आक्रमण करेंगे, मैं तुम्हारी सहायता करूँगा और तुम्हारा स्वतन्त्र होने का प्रण रक्खूँगा। मुगलों ने जब-जब मुझसे युद्ध लड़ा, देवी भवानी ने मेरी सहायता की। भवानी की कृपा से मैं मुग़लों की महत्तम शक्ति से थोड़ा भी नहीं डरता। कितने ही प्रपंची मुसलमान सरदार मेरे सहायक होने का छद्म रच कर मुझसे मिले, मुझ पर वार किये चाहे, परंतु मेरी हाथ की भवानी ने उनका विनाश किया। अतः जाओ, सेना तैयार करो और मुसलमानों को बुन्देलखंड से मार भगाओ। सदा, हाथ में नंगी तलवार लिये युद्ध के लिये तत्पर रहो। ईश्वर अवश्य तुम्हें विजय देगा। गो ब्राह्मण का पालन, वेदों की रक्षा, और युद्ध में शौर्य प्रदर्शन ही क्षत्रिय-धर्म है। स्वधर्म-पालन में मृत्यु हुई तो स्वर्ग और विजय हुई तो राज्य और अमर-सुयश सहज ही सुलभ है। अतः अपने देश में जाओ और विजय प्राप्त करो।

लिये, अपने अधीन ओरछा के राजा सुजानसिंह को लिखा। सुजानसिंह दिल्ली के अधीन अवश्य थे, पर थे हिन्दू ! अपने मन्त्रियों के परामर्श से उन्होंने छत्रसाल से मिलना तै किया। यद्यपि छत्रसाल ओरछा के बैरी चंपतराय के पुत्र थे ! तथापि सब को विश्वास था कि हिन्दू धर्म की रक्षा की पुकार पर, मुसलमानों से लड़ने में छत्रसाल कभी भी ढीले न पड़ेंगे। सचमुच ओरछा का पत्र पाने के दूसरे भोर; अंगदराय, बल दिवान और वे, ओरछा चल पड़े और पहुँच, सुजानसिंह से समादर और विचार-विमर्श पाकर बहुत बहुत सन्तुष्ट हुये। दोनों पक्ष, रामराजा के मन्दिर में गये और पुराना बैर भुला देने और एक दूसरे की सहायता करने के संकल्प में बंध गये। निश्चय हुआ कि बुन्देल खण्ड की अक्षुण्ण स्वतन्त्रता ही, आये दिनों के उत्पीड़नों से त्राण पाने का एक मात्र मार्ग है, अतः तदर्थ दोनों पूर्ण तैयारी में जुट गये।

यहाँ से, छत्रसाल बिजौरा जाकर अपने भाई रतनशाह से मिले। किन्तु उनसे आतिथ्य का सम्मान भर ही पाया, अभिप्राय-सिद्धि के लिये सहयोग न पा सके। यहाँ से लौटकर औंडेरा गाँव में बुन्देलों के जमाव में शामिल हुए। इस सम्मेलन ने उनको बुन्देलों का प्रमुख और बल दिवान को उनका मन्त्री माना। और युद्ध में लूट का दोनों के लिए क्रमशः ५५ प्रतिशत और ४५ प्रतिशत निश्चित किया। सभी बुन्देलो ने यहाँ स्वाधीनता प्राप्त करने की शपथ ली और अपना लक्ष्य घोषित किया: (१) निष्ठापूर्वक क्षत्रिय धर्म का पालन (२) देश और जाति की रक्षा का सतत प्रयत्न। (३) धर्म विरुद्ध आचरण कारी और प्रजा पीड़क यवनों का उन्मूलन और (४) विजातीयों से मेल कर हिन्दुओ पर अत्याचार करने वाले राजाओं और सूबेदारों का यथोचित रूप से दंडन।

तीस सवारो और ३४७ पदाति सेना से छत्रसाल का विजयाभिधान आरंभ हुआ। पहले पहल जब उन्होंने मुगलों के मातहत धँधेर खण्ड के राजा कुँअरसिंह धँधेरा को बन्दी बनाया तो बादशाह की ओर से, इन लोगों को केवल डाकू समझ कर, पकड़ने के लिये ३०० सैनिकों के साथ, सिरौंज का थानेदार हाशिमखाँ भेजा गया। छत्रसाल ने इन सबको मार-पीट, भगा दिया और सिरौंज का नगर और तिबरो गाँव लूट लिया। इन लूटों से उन्हें प्रभूत धन मिला, जिसे उन्होने बड़ी उदारता से सिपाहियों को बाँट दिया। इससे उनके अनुयायी प्रसन्न ही नहीं हुए, दिनानुदिन बढ़ने भी लगे। मनगरे बुन्देले दूर-दूर से आकर धड़ाधड़ उनकी सेना में भरती होने लगे।

छत्रसाल ने दिल्ली के अधीन धमौनी के जागीरदार को ८ दिन के युद्ध

में हराकर, उससे बहुत सा धन और सालाना चौथ लेकर अपनी अधीनता में कर लिया। १२ दिन के युद्ध में मैहर ले लिया और ३०००) वार्षिक कर देने पर वहाँ के बंदी बनाये सेनप माधवसिंह गूजर को छोड़ा। बाँसा को, उसके महाबलाभिमानी जागीरदार केशवराव दुरंगी के कहने पर, द्वन्द्व युद्ध लड़ कर और मार कर, अपने अधीन कर लिया। पवायाँ लूट लिया और सूबेदार मुनव्वर ख़ाँ की तगड़ी सेना पीट कर गवालियर के बहुत से रत्न और १½ करोड़ रुपये लूट लिये। छत्रसाल की इन विजयों ने बुन्देलों के दिल खोल दिये। अब वे सब मिल कर मुसलमानों से लड़ने को तैयार हो गये।

गवालियर की लूट से औरंगजेब को बड़ा आश्चर्य हुआ। इस समय वह बड़ी साँसत में था। दक्षिण में शिवाजी दम न मारने दे रहे थे। जोधपुर नरेश महाराज जसवंतसिंह के राजकुमारों का अभिभावक दुर्गादास राठौर अलग से उसे कोंचे था, बूँदी का हाड़ा राजा छत्रसाल पहले से ही उसे छकाता आ रहा था। यह महेवा का छत्रसाल और नया, उसका सिरदर्द बन गया।*

औरंगजेब ने तीस हज़ार सेना और कई तोपें देकर सेनापति रण दूल्हा ख़ाँ को छत्रसाल पर भेजा। दिल्ली दरबार के २२ वजीर और ८ सरदार इस सेना के साथ थे। छत्रसाल पर भी अब यथेष्ट सेना थी। इनके ७२ सरदार अपनी,अपनी सेनाओं के साथ जमा हुये थे। गढ़ा के पास दोनों में भिड़ंत हुई और अन्त में बलदिवान और छत्रसाल की कड़वी मारों से रण दूल्हा ख़ाँ अपनी बरात लेकर सागर की ओर भाग खड़ा हुआ। उसकी दस तोपो के साथ विजय-दूल्हन छत्रसाल के गले मिली।

इसी समय दक्खिन से शाही ख़ज़ाना दिल्ली आ रहा था। छत्रसाल ने उसे भी सारा का सारा लूट लिया।

औरंगजेब इतने अप्रिय कैसे हज़म कर सकता था? उसने अब के अपनी तुर्की सेना भेजी। छत्रसाल इस सेना से सामने-सामने तो न लड़े, पीछे हट गये, परन्तु अपने एक विश्वासी जन द्वारा इसके तोपखाने में आग लगवा दी और तब धावा बोलकर सहज ही उसे खदेड़ मारा। यह विजय भी उन्हीं के घर आई।

'छत्रशाल कहीं दिल्ली न लूट ले!' इस चिन्ता ने औरंगज़ेब को कुरेद कर छत्रशाल के लिये तहव्वर ख़ां को भेजवाया। छत्रशाल अपने चौथे विवाह

*इक हाड़ा बूँदी धनी, मरद महेवा बाल,
सालत औरंगजेब को, ये दोनों छतसाल।

की संडवा वाजने में भांवरें घूम रहे थे कि इस सेना से घिर गये। भावरें पूरी कर, थोड़े से सैनिकों से तो उन्होंने इस सेना को अटकाया और किसी ढब से निकल, शेष सेना लेकर दूसरी ओर से उस पर टूट पड़े। तहव्वर खां की सेना का ध्यान; अब, जब उन पर केन्द्रीभूत हुआ तो उन की वह सेना, जो दूसरी ओर लड़ रही थी, आकर उनसे मिल गई और वे अपनी सारी सेना समेट, मऊ चले आये। तहब्बर तकता ही रह गया और कोरा दिल्ली लौट गया।

चौमासा बिता, विजयादशमी के दिन छत्रशाल ने कालिंजर पर चढ़ाई की। सेनापति बलदिवान ने १८ दिन घेरा डाले रख, किले की सेना को बाहर निकल कर लड़ने को वाध्य कर दिया। इस लड़ाई में १० बुन्देला सरदार मरे और २७ घायल हुये। परन्तु किला पा लिया गया।

ई० सन् १६८५ में छत्रसाल ने सागर और दमोह लूटे और बरहट्टा का राजा वश में किया। एरच और जलालपुर भी लूट लिये। गवालियर के पास, सैयद लतीफ़ को, १०० अरबी घोड़े और ७० ऊँट, १३ तोपें छीनकर दक्खिन की ओर भगा दिया। बांदा वालों से स्वागत पा कर उन्हें अभय किया तो मौदहा, मुस्करा आदि १८ गाँवों से प्रतिरोध पाकर उन्हें दंडित किया और लूट लिया। महोवा, राठ, पनवाड़ी, अजनर, कालपी आदि भी लूट लिये और उन पर अपने पहरे बिठा दिये।

ओरछा में अब (१६८५ ई०) भगवन्तसिह (बालक) राजा थे। मंत्रियों ने छत्रसाल से सम्पर्क हटा, दिल्ली की अधीनता अंगीकार कर ली थी। अतः छत्रसाल ओरछे से मुख़ातिब हुये। पता पाते ही राजमाता अमर कुँअरि ने धसान नदी पर उन से भेंट की और आक्रमण न करने का उन पर अनुरोध डाला और धसान का पूर्वी भाग उन्हें दे दिया। छत्रसाल ने गवालियर के सूबेदार तहब्बर खां पर भी चढ़ाई की और उससे वार्षिक चौथ और २० हजार नक़द वसूले। इसी समय भेलसा का किला भी जीत लिया।

भेलसा जीत कर वे लौट रहे थे कि मार्ग में औरंगज़ेब का नामी गरामी सरदार अनवरखां अपनी पूर्ण सैन्य-सज्जा समेत युद्ध करने के लिये प्रस्तुत मिला। छत्रसाल ने तुरन्त अपनी सेना कई टुकड़ियों में बाँट-बखेर दी। एक टुकड़ी अनवर खां को छेड़, भाग खड़ी हुई। इसका पीछा करते-करते अनवर खां की विशाल वाहिनी, उन चारों ओर की पहाड़ियों से घिरी समभूमि पर पहुँच गई जिन पहाड़ियों पर योजनानुसार पहले से ही बुन्देला टुकड़ियाँ जमी हुईं, इसी अवसर की प्रतीक्षा कर रही थीं। वे चारों ओर से इस सेना पर टूट पड़े और उसे छिन्न भिन्न कर अनवर खां को बांध लिया। सवा लाख रुपया

दे कर अनवरखां ने अपनी मुक्ति करा पाई।

अनवर खां के इस पतन पर औरंगज़ेब बेहद नाराज़ हुआ। उसने भरे दरबार में उसे बे इज्ज़त किया और उसकी सरदार पदवी छीन ली। अब छत्रसाल को पकड़ने के लिये उसने मिरजा सदरुद्दीन को भेजा। बुन्देलों ने इस पानी को भी परखा, बावजूद अपार सैन्य शक्ति के मिरज़ा साहब बुन्देलों के बन्दी बन गये और चौथ देने की शर्त पर छूट पाये। ये मिरज़ाजी औरंगजेब के सूबेदार थे और छत्रसाल को गिरफ्तार करने का बीड़ा कर आये थे!

मिरज़ा साहब से निमट कर छत्रसाल ने अधिकृत प्रदेश का दौरा किया। राज्य-व्यवस्था और प्रजा की सुख-सुविधा देखी और दो चार सिरफिरों को दबाया और अधीन किया। इतने में औरंगजेब से आदेशित दिल्ली खास का सूबेदार अब्दुस्समद तीस हजार सवार और कितने ही पदाति ले कर मोदहा में आधमका। बुन्देला सेना ने तुरन्त छत्रसाल, बल दिवान, कुँअरसिंह धँधेरा और अंगदराय की टुकड़ियों में उस पर चतुर्मुखी दबाव डाला और खुले मैदान की केवल एक दिन की लड़ाई में २१ तोपें छीन कर उसे मार भगाया। इस युद्ध के घाव अच्छे होने तक, प्रायः दो महीने छत्रसाल सेना समेत पन्ना में रहे।

बाबा प्राणनाथ जी की धर्म रक्षार्थ दी गई अभिचेतना एवं तदर्थ दिये गये उनके आशीर्वाद के फल स्वरूप जिस-जिस ओर छत्रसाल का घोड़ा मुंह करता था, वे उस ओर ही अभियान के लिये चल पड़ते थे और जीत कर ही लौटते थे। उन्होंने कितने ही सिर उठाने वाले मुगलों के समर्थक जागीरदारों को, सुहावल, भिलसा, धमौनी शाहगढ़ कोटरा आदि को स्वाधिकृत किया। महोबा बाँदा का प्रबन्ध देखते हुये वे सिहुँड़ा पहुँचे और दलेलखां के नायब मुरादखा को मार कर उसे छीन लिया। किंतु दलेलखां के, जो चम्पतराय का पाग बदल मित्र था, नम्रता भरे पत्र से प्रभावित हो कर उन्होंने सिहुँड़ा उसे वापस दे दिया।

इन्हीं दिनों औरंगज़ेब का सेनापति शाह कुली खां विशाल सैन्य-शक्ति समवेत कर, बुन्देल खंड में आ घुसा और छत्रसाल के जीते हुए थुरहट कोटरा जलाल पुर आदि स्वाधिकार में करता हुआ नौली गाँव में आ जमा। असमद खां नाम का सरदार भी सहायतार्थ उससे आ मिला। इन दोनों की शक्ति शालिनी सेनाओं से छत्रसाल की सेना ने युद्ध लड़ा और भयंकर युद्ध लड़ा!

छत्ता तेरे राज्य में धकधक धरती होय,
जितजित घोड़ा मुख करे, तिततित फत्ते होय।

परन्तु उखड़ गई और भाग खड़ी हुई। बलदिवान और छत्रसाल ने भागती सेना में जोश जगाया और फिर से युद्ध में प्रवृत्त किया। बुन्देले मर मिट कर लड़े और अन्ततोगत्वा असमद खां को बन्दी बनाने में सफल हो गये। शाह कुली खां ने फिर से, दिल्ली से नई कुमक पा कर, मऊ पर नया धावा किया, परन्तु नव गाँव के पास, वह भी बुन्देलों से धर लिया गया और बहुत सा दंड देने पर छूट पाया। इस पराभव के उपरान्त दिल्ली की राजनीति में कुछ ऐसे फेर बदल हुये कि बुन्देलखंड पर दिल्ली के आक्रमण बन्द हो गये।

ई० सन् १७०७ में, अहमद नगर में आलमगीर औरंगजेब चिर निद्रा में सो गया। मुअज्ज़म, आज़म और कामबख्श, उसके तीन बेटे थे। मुअज्ज़ाम काबुल में था, अतः आज़म बादशाह बन बैठा। मुअज्जम ने आते ही अपने बाप के बिरोधियों से सद्व्यवहार कर, उनकी सहायता से तख्त पर अधिकार पा लिया। उसने छत्रसाल से भी मित्रता कर ली। जब छत्रसाल ने मुअज्जम (बहादुरशाह) को, उसके अनुरोध पर लोहगढ़ का किला जीत दिया (१७११ ई०) तो वह बहुत प्रसन्न हो गया। उसने छत्रसाल की स्वतन्त्रता स्वीकार कर ली और उनसे बराबरी का बर्ताव करने लगा। उसने छत्रसाल को मनसब देने की इच्छा प्रकट की, किन्तु छत्रशाल ने उसे इन शब्दों में अस्वीकार कर दिया—"हम स्वतन्त्र हैं, हमारे पास अपना देश है, किसी का मनसब दार होना हमारे स्वाभिमान और सम्मान के योग्य नहीं।"

मुगल सत्ता की नीव तो औरंगजेब के समय में ही खोखली हो गई थी। उस के मरने पर वह निःसत्व स्थिति बिगड़ती ही गई। बहादुरशाह के मरने पर जहाँदार शाह को मार कर फर्रुखसियर बादशाह हुआ, परंतु अब्दुल्ला और हुसैन अली नाम के सैयद-बन्धुओं के हाथ का कठपुतली मात्र! इन दोनों ने अपने समय में, दिल्ली ने नित नये खेल खेले। जिसे चाहा, बादशाह बनाया बिगाड़ा और अपना उल्लू सीधा किया। इन्होंने अपने सहायक और कृपापात्र सरदार मुहम्मद खां बंगश को 'नबाब' पदवी दे कर बुन्देलखंड के एरछ कोंच कालपी, सेहुँड़ा, मौदहा, सीपरी और जालौन परगनों का सूबेदार बना दिया।

मुहम्मद खाँ बंगश चमक उठा। वह एक अत्यन्त कुशल प्रतिभा का सेनापति था और कूट नीत निष्णात तो था ही। बादशाह मुहम्मदशाह और सैयद-बन्धुओं की अनबन में दूसरी बार उसने बादशाह का साथ देकर सात लाख का पुरस्कार और सात हज़ारी मनसब दारी पाली और १७२१ ई० में इलाहाबाद की सूबेदारी भी। अब उसकी शक्ति की स्वतन्त्र सत्ता प्रकाश में आ गई!

बंगश जिन परगनों का सूबेदार बनाया गया उनमें से कई छत्रसाल के अधिकार में के थे, जिन्हें लेने के बंगश ने कितने ही निष्फल प्रयत्न भी किये।

इसी दौर में छत्रशाल ने बंगश के कालपी के सरदार पीरख़ाँ को कालपी से भगा दिया और उसकी बनवाई मसजिदें गिरवा दीं। इन सबको सहन न कर, मुहम्मद ख़ाँ बङ्गश ने बुन्देल खण्ड पर चढ़ाई कर दी। दलेलख़ाँ राठौर जो अति पराक्रमी था और जिससे स्नेहात् छत्रसाल लड़ना न चाहते थे, भी उससे मिल गया। बङ्गश की माँग पर दिल्ली के अमीरुल उमराख़ाँ दौरान ने भी प्रभूत सेना भेजी। इस सब को समेट कर उसने बाँदा और सेंहुड़ा पर कई हमले किये। किन्तु इसी समय गवालियर पर हुए मरहठा-अभियान के कारण उसे गवालियर बचाने जाना पड़ा, जब कि तुरन्त बाद ही इलाहाबाद लौटना पड़ गया; इस लिये कि इधर के उसके प्रदेश पर छत्रसाल आ धमके थे।

बङ्गश ने इस बार अपनी सैन्य शक्ति में अपूर्व बल भर कर बुन्देलखण्ड पर चढ़ाई की। कितने ही बुन्देले भी (!) उसके साथ बुन्देलखण्ड पर खड्ग हस्त हो गये। ओरछा के हरदौल के प्रपौत्र उदोतसिंह-सेंहुड़ा के पृथ्वीसिंह, दतिया के राय रामचन्द्र, चन्देरी के दुर्जनसिंह और मौदहा के जयसिंह बङ्गश के प्रमुख सहायकों में तो हो ही गये, दिल्ली की भारी शक्ति भी उसके साथ हो गई। दिल्ली के प्रमुख सामन्त सैयद नाजिमुद्दीन अली ख़ाँ, साबित ख़ाँ, जांनिसार ख़ाँ वज़ारत अलीख़ाँ, आदि सब, अपनी सेनाओं के साथ बंगश की सहायता को आ गये।

छत्रसाल और उनकी सेना ने साहस न खोया। उन्होंने लड़ाई की उम्र बढ़ाते रह कर—लड़ते ही रहने की, नीति अपनाई। लगातार एक वर्ष तक लड़ते रहे। उन्हें गोंडवाने से भी कुछ सहायता मिल गई थी। इस समय वे जैतपुर के दक्षिण का विशाल युद्ध लड़ रहे थे कि उनके और बंगश के हाथी आमने सामने आ पड़े। मुहम्मद ख़ाँ बंगश ने उन पर अचूक भाला फेंक मारा और वे आहत होकर तत्काल मूर्छित हो गये। महावत तत्काल उन्हें सुरक्षित बचा लेगया किन्तु जैसे ही वे होश में आये, युद्ध से भगा ले आने पर वे महावत पर बेहद नाराज़ हुए और तुरन्त युद्ध में ले चलने की आज्ञा दी। किन्तु घाव गहरा था, मंत्रियों के अनुरोध पर उन्हें चुप हो जाना पड़ा।

स्वस्थ होते ही उनके मस्तिष्क में बंगश का निर्दलन उठ बैठा। उन्हें अपने लिये नहीं, हिन्दू धर्म के लिये और देश से विदेशी सत्ता निर्मूलन के लिये लड़ना था। इसके लिये वे किसी भी स्वदेशाभिमानी से सहायता की याचना कर सकते थे, उनकी दृष्टि मराठा नायक पेशवा बाजीराव प्रथम पर

पहुँची। अपना पुत्र मानते हुये उन्होंने उसे सहायता प्रदान करने के लिये मर्ममय एक पत्र लिखा। बाजीराव ने पत्र* पाते ही उन्हें सहायता पहुँचाई।

मराठों के आते-आते, कई हिन्दू राजे बंगश से हट गये। बिट्ठल शिवदेव चिंचूरकर और मल्हारराव होल्कर की सेनाओं का साथ पाकर बुन्देलों ने शतोगुण उत्साह से बंगश-सेना का मुकाबिला किया (१७३० ई०) उन्होंने कई युद्ध लड़े और बङ्गश को अपार क्षति पहुँचाई। अन्ततः उन्होंने बंगश सैन्य को जैतपुर के किले में घुसा-घेर, रसद के अभाव में भूखों मरने पर विवश कर दिया। स्थिति बिगड़ी तो ऐसी कि उन लोगों को किले में के गाय, बैल और ऊँट घोड़े खाने पड़ गये। नारी के छद्म में, अन्त में बंगश किला छोड़ गया और उस पर छत्र साल का स्वामित्व हो गया। सराहनीय मराठा-सहायता के बल पर यह किला पाने में छत्रसाल को छः महीने लग गये।

छत्रसाल अब ८२ वर्ष के बृद्ध थे। मराठा-कुमक पर वे बहुत प्रसन्न हुये। पन्ना में बुलाकर उन्होंने बाजीराव का अनूठा सम्मान किया और यतः वह बाजीराव को अपना एक पुत्र मान चुके थे अतः पुत्र को उसका पैत्रिक दाय भी देना था। महाराज को उनकी १७ रानियों से ६६ पुत्रथे, परंतु बाजीराव को ५६ का ही पता था। उन्हें चिन्ता थी कि मुझे ५७ वाँ भाग (!) ही मिल पायेगा। अतः बाजीराव ने पुत्रों में बैटने की बात पर साभिप्राय विनोद से पूछा "महाराज ! आपके ५६ पुत्र हैं, इनमें मैं कहाँ बैठूँ ?" तत्काल उनके लक्ष्य पर पहुँच महाराज बोले, "मेरे पहले पुत्र हृदयशाह, दूसरे जगतशाह और तीसरे आप है। आप इनके ही पास बैठें" महाराज ने स्वयं उठकर बाजीराव को जगतराज के पास बिठाया और पुष्कल उपहारों से उनका हर्ष बढ़ाया। हृदयशाह और जगतराज ने उनसे प्रसन्नता से पाग बदली और उन्हें अपना भाई माना और महाराज ने अपने राज्य का ३/१० भाग इस मनोनीत नये पुत्र को देकर अपूर्व प्रसन्नता प्राप्त की। वे राज्य-लोलुप और अर्थ-कृपण नहीं थे। न पुत्रों में ही यह भावना देखना चाहते थे। राज्य बनाने में उनकी स्वार्थ-बुद्धि नहीं, वरन् हिन्दुत्व की रक्षा और लोक संग्रह-बुद्धि ही प्रधान थी। और यही उनके गुरुदेव प्राणनाथ जी का उनके लिये उपदेश था।

जिस समय महाराज चम्पतराय मरे थे, महेवा जागीर की आमदनी छोड़, उनके पास आय का कोई स्रोत न था। उन्होंने बाहुबल से कालपी की जागीर

---

* जो गति ग्राह-गजेन्द्र की सो गति भई है आज,
बाजी जात बुन्देल की राखौ बाजी लाज।

बनाई भी, परन्तु पहाड़सिंह के षड्यन्त्रों या स्वाभिमान से उसे भी छोड़ बैठे थे। छत्रसाल के हिस्से में महेवा की जागीर से तीन आना रोज से भी कम आते थे। इस न कुछ स्थिति से छत्रसाल छत्रपति हो गये! यह उनके आत्म-विश्वास और दृढ़-संकल्प का चमत्कार था!! उनका राज्य चम्बल नदी तक था, पूर्व की राज्य-सीमा टोंस बनाती थी और दक्षिण की नर्मदा, उत्तर में उसका विस्तार यमुना तक था। कालपी कौंच जालोन झाँसी, एरछ, सिरौंज, गुना, धमौनी, गढ़ा कोटा, सागर, बांसा, दमोह, कालिंजर, मैहर चित्रकूट आदि इनके राज्य में थे। इनका राज्य चन्देल राजा कीर्ति वर्मा के राज्य से विस्तृत था। इनकी प्रजा इनसे बहुत-बहुत सन्तुष्ट रहती थी।

छत्रसाल परम वीर, परम उदार और परम मनस्वी तो थे ही, परम विद्वान् और चरम गुणाज्ञ भी थे। इनके दरबार में पधारे वीर रस के सु-ख्यात कवि 'भूषण' जब बहुत-बहुत सम्मानित हो कर जाने लगे तब इन्हें, जैसे भान हुआ कि मुझसे कविवर का कोई सम्मान तो बन ही नहीं पड़ा। अतः अत्यन्त श्रद्धामुग्ध हो इन्होंने कवि की पालकी का बाँस अपने कन्धे पर ले लिया*। और इस प्रकार कवि के प्रति अपना आदर प्रकट किया। उनके इस सम्मान प्रदर्शन ने वीर-कवि को तो सम्मान दिया ही, सम्मानदाता को भी सम्मान के शिखर पर आसीन कर दिया। इस विनम्रता से उनकी गुणज्ञता ऐसी जगमगा उठी कि उसके प्रकाश से भावी प्रकाश को भी निरंतर प्रकाश मिलता रहेगा।

बुन्देला इतिहास के उद्गम से, अत्यन्त तेज भागते में प्रमुख घटनाओं का संस्पर्श मात्र करते, हम महाराज छत्रसाल-काल का पर्यन्त कर रुक रहे हैं। इससे आगे का वर्णन हमारे इस काव्य से उतना ही उतना दूर पड़ता जायेगा— जितना-जितना हम आगे बढ़ेंगे। अतः वह हमें अनभीष्ट है। इतना सब,

---

*महाराज के इस शील-सौजन्य पर मुग्ध हो कर 'भूषण ने लिखा—

राजत अखंड तेज, छाजत सुजस बड़ो,
गाजत गयन्द दिग्गजन हिय-साल को,
जाहि के प्रताप से मलीन आफताप होत
ताप तजि दुजन करत बहु ख्याल को।
साज सजि गज तुरी पैदरि कतार दीन्हें
'भूषन' भनत ऐसो दीन प्रतिपाल को?
और रावराजा एक मन में न ल्याऊँ,अब—
साहू को सराहौं कै सराहौं छत्रसाल को?

जितना लिखा गया है, हमारे 'इस काव्य की भूमि' है। इस भूमि में से अंकुरित हो कर यह बढ़ा और फैला है। हमें विश्वास है कि 'इस काव्य की धरती'ऽ पर बैठ कर इस काव्य का आस्वादन करने में हमारे सुधी पाठकों को भर-पूर आनन्द मिलेगा।

—राजेन्द्र देव सेंगर

ऽ इस निबन्ध के लिखने में नागरी प्रचारिणी पत्रिका, वर्ष १२-४ और १३-१, से ज्ञातव्य ग्रहण किया गया है। एतदर्थ हम उसके साभार अनुग्रहीत हैं। ले०

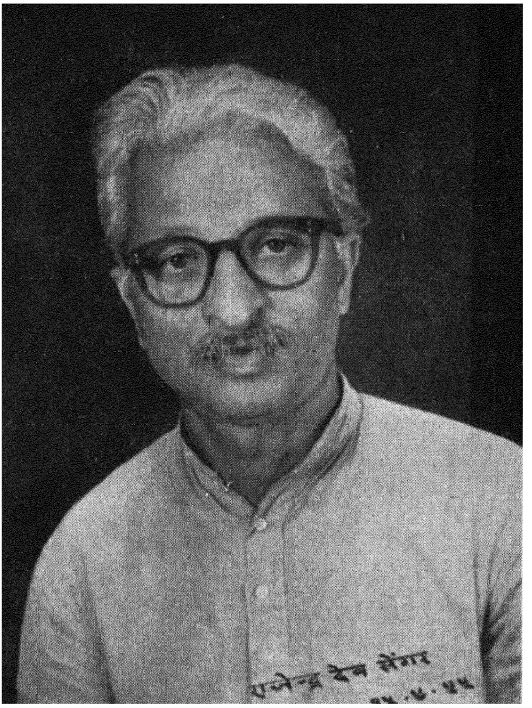

श्री राजेन्द्रदेव संगर

मंगलाचरण

कसे दुकूल; कछौटा मारे;
कटि घट; जल-कन भाल भरे—
सींचति पंचवटी, वह श्रम-छबि
जन के भव-सन्ताप हरे।

?

ओ जगत-पूज्य भारत ललाम !
तुमको प्रणाम ! तुमको प्रणाम !

कितने महान कमनीय कान्त—
तुमने अवलोके हैं युगान्त !

ओ अमर प्राण ! ओ सौम्य शान्त !
है पूत तुम्हारा ठाम - ठाम ।

ओ जगत-पूज्य भारत-ललाम !
तुमको प्रणाम ! तुमको प्रणाम !

ओ महा-महिम ! ओ तप-विभोर !
ओ कर्म - निष्ठ, कर्मठ - कठोर !

गौरव - गहीर में सराबोर—
तुम रहे, सदा से याम-याम ।

ओ जगत-पूज्य भारत-ललाम !
तुमको प्रणाम ! तुमको प्रणाम !

तुम जगे, जगाई विश्व-धरा,
दी जग को अपनी परम्परा।

जीती तुमने है मृत्यु-जरा,
गाये अथर्व-ऋक्-यजुः-साम।

ओ जगत-पूज्य भारत-ललाम !
तुमको प्रणाम ! तुमको प्रणाम !

तुमने जाये हैं महा काल,
तुमने जाये हैं सौम्य भाल।

कब किसके ऐसे हुए लाल ?
जैसे कि तुम्हारे कृष्ण-राम !

ओ जगत-पूज्य भारत-ललाम !
तुमको प्रणाम ! तुमको प्रणाम !

तुमने दी जग को धर्म-दृष्टि,
की, प्राणि-मात्र पर दया-वृष्टि।

दुर्जेय तुम्हारी शान्ति-यष्टि,
तुम हो प्रबुद्ध वर ! बुद्ध-धाम।

ओ जगत-पूज्य भारत-ललाम !
तुमको प्रणाम ! तुमको प्रणाम !

तुम गंगा के अनमोल देश !
है धन्य तुम्हारा चारु वेष।

पद-तल सागर, शिर हिम अशेष,
सुरगण करते झुकि-झुकि प्रणाम।

ओ जगत-पूज्य भारत-ललाम !
तुमको प्रणाम ! तुमको प्रणाम !

जिसको भी तुमने दिया ठाम
हो गया तृप्त वह पूर्ण-काम

पर देखा जब वह अनभिराम—
हो उठा, मेट दी तुरत पाम (!)

ओ जगत-पूज्य भारत-ललाम !
तुमको प्रणाम ! तुमको प्रणाम !

कण - कण में गौरव-कथा-भार–
अभिमान भरा कटु व्यथा-भार–

है भरा तुम्हारा प्रथा-भार।
हम जिसे देखते हृदय थाम।

ओ जगत-पूज्य भारत-ललाम !
तुमको प्रणाम ! तुमको प्रणाम !

ओ विश्व गर्व ! गौरव महान !
विज्ञान - ज्ञान - श्री सन्निधान !

तुम वन्दनीय हो साभिमान
तुमको शिरसः शत-शत प्रणाम।

ओ जगत-पूज्य भारत-ललाम !
तुमको प्रणाम ! तुमको प्रणाम !

ओ क्षान्त, दान्त, शुचि-शान्ति-काम !
नित सर्व - धर्म -समभाव-ग्राम !

व्रत सत्य - अहिंसा - रत-प्रकाम !
तुम से स्फूर्ति ले धरा-धाम !

ओ जगत्-पूज्य भारत-ललाम !
तुमको प्रणाम ! तुमको प्रणाम !

●

उपोद्घात

"अहो ! स्वर्ग का यह अवमूल्यन-
किसका मूल्य बढ़ाने जाता ?
ओ दिव्यात्मे ! अरे बता दो,
कौन आज हरसाने जाता ?

अमरों का पुर सूना कर के—
अहो, कहाँ जाने की ठानी ?
दृप्त-तेज संवरण तुम्हारा—
कौन करे गा ओ कल्याणी !

पुण्य स्थली कौन वह जिस पर—
अमर पुरी तुम वार चली हो ?
ठहरो, ठहरो, अरे बता दो,
क्यों यह लोक बिसार चली हो ?"

"अमरो ! जाती जहाँ त्याग कर—
मैं सुरपुर की अप्रतिम सुषमा,
वह है कितनी प्यारी, कितनी—
मोहक, कितनी मधुर निरुपमा ?

ध्रुव-संकल्प-निरत भोले शिशु,
वहाँ परम प्रभु को पाते हैं?
वहाँ मनीषी ऋषि मुनि साधक,
आत्म प्रकाश जगा जाते हैं।

अस्थिदान करने वालों ने,
वहाँ दिया था वज्र जिष्णु को,
पिला चुकी कितनेक बार वह,
स्तन्य-स्वीय, भगवान विष्णु को।

स्वर्गादपि गरीयसी वह ही—
भारत अवनि आज मन भाई,
जिसकी गोदी में अमरों ने;
हँस-हँस कर सत्कीर्ति कमाई।

जहाँ केहरी-वदन खोल कर—
गिनता रदन मृदुल-वय बालक,
जनमे जहाँ वीरता - क्षमता—
क्षमा-अहिंसा के व्रत-पालक।

शरणागत खग पर भी नृप की,
देह जहाँ स्वामिष उतारती!
दृढ़ ऋत-व्रत-निष्ठा श्मसान पर—
जहाँ घोर कर्तव्य सारती!

जहाँ भगीरथ-यत्न, स्वर्ग की—
गंगा, धरती पर ले आया,
मर्त्य जहाँ का वासव होकर—
अमरों के भी ऊपर छाया।

भाई-भाई बीच जहाँ पर—
शासन-सत्व बना है गेंद!
भाई संग जहाँ पर भाई—
वन - वासी बन हुआ अखेद।

जहाँ एक निर्वासित-पौरुष;
जलधि-सेतु करता निर्माण ?
जहाँ सती की शुचिता करती—
दशाननों का मद म्रियमाण!

जहाँ पिता के सुख पर देता—
सुत अपना यौवन-सौन्दर्य!
जहाँ पिता के सुख पर लेता
सुत आद्याश्रम का ऐश्वर्य!

नारी के सम्मान-स्पर्श पर—
तच उठता है जहाँ भीम-प्रण!
जग उठता संक्रुद्ध महाभारत—
विनाश को दे आमन्त्रण!!

जहाँ पहुँच दुर्दान्त क्रान्त का—
पड़ जाता श्लथ विजयारोहण!
जहाँ पहुँच, टकरा, हट जाता—
यवनाधिप का झंझालोड़न!

जिसकी बाहों के पानी में—
तिर जाता सेनप यूनानी!
कर जाता वह स्वीय सुता को
जिस बसुन्धरा की पटरानी—।

लंका ब्रह्मा स्याम सुमात्रा
जावा बाली तिब्बत चम्पा,
काम्बोज खोतान बोर्नियो—
पर छाई जिसकी अनुकंपा—

अपनी संस्कृति और सभ्यता—
से, जिसने नरता सर्जित की!
जिससे मसीह पैगम्बर ने
अपने में क्षमता अर्जित की!

जिसके नृप संसृति-श्रेयार्थी,
लोकैषणा-विरक्त रहे हैं!
जिसके अणु-परिमाणु सदा—
निःश्रेयस् में अनुरक्त रहे हैं।

जिसकी मिट्टी में अशोक का
मौर्य-केतु लह-लह लहराया,
चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने—
जिसका स्वर्ण-सुयश बगराया—

राजकोष - परिधान - धान्य - सब
हर्ष लुटाता रहा जहाँ है—
आन-मान पर भव का वैभव,
बलि-बलि जाता रहा जहाँ है—

वन्दी बन-बन भी अराति ने,
जहाँ क्षमा के अवसर पाये!
और जहाँ के शब्द-बेध ने
गजनी के गुमान चकराये—

अस्सी घावों में फूली है,
जहाँ वीरता की फुलवारी !
जौहर के भारों पर हँसती
जहाँ कुसुम सी कोमल नारी !

लुभा रही वह मुझको, मेरे—
मानस को वह भूमि भा रही,
वहीं जा रही हूँ अमरो !, मैं—
वहीं जा रही, वहीं जा रही ।

आज वहाँ पर धर्म - द्वेष का—
अनल जल रहा; नरता जलती,
देख - देख अतिचार मनुज का—
अंग अंग में आग सुलगती ।

आत्मार्पण कर रही अनय को—
आज वहाँ की क्षत्रिय - दृढ़ता,
आत्म - विनाश - मार्ग पर उसका
अन्धा क्षत्रिय आगे बढ़ता ।

और नारियाँ उसकी अपने—
तन की मृदुता बढ़ा रही हैं !
नहीं पद्मिनी बनतीं, अब वे
तितली का रंग चढ़ा रही हैं !!

डँसतीं वे न, वेणियाँ उनकी—
कामुक जीवन को डँसती हैं !!
'शौर्य - प्रदर्शन' भुला आज वे
'स्वीय - प्रदर्शन' में फँसती हैं !

केश - वेष - विन्यास मात्र ही—
अब उनका नारीत्व रह गया !
पुरुष - वासना में उनका सब—
ओज - शौर्य - सौन्दर्य बह गया!!

जाती हूँ मैं आज वहाँ की
नारी में नारीत्व जगाने,
नारी क्या है ? इसे बताने,
नारी क्या है ? इसे सिखाने ।

नारी ही है दुर्गा, चण्डी,
नारी ही है वाणी कमला,
वह माता है, वह भगिनी है,
वह जीवन - सहचरी निर्मला ।

अधरों में अमृत, तो; उसकी—
आँखों में ज्वालाक्त गरल है !
अपनी स्वयं पहेली है वह !
बहुत जटिल है, बहुत सरल है !!

आज न केवल उसको, जग को
उसका रूप दिखाने जाती !
रुक न सकूँगी अमरो, मुझको—
भारत-जननी आज बुलाती !!

लोकोत्तरानन्द के भाजन !
अमर पुरी में तुम सुख पाओ,
किन्तु न मुझ को कर्मभूमि के—
लाभार्जन से विरत बनाओ।

मैं पावन मनोज्ञ भारत की—
रज में पलने को जाती हूँ,
हँसने को खिलने - खुलने को,
खुल कर जलने को जाती हूँ।

क्रीड़ा - पुत्तलिका बन कर, है—
मां को नहीं लजाना मुझको,
न ही विलास - साज - सज्जा में—
अपना गात सजाना मुझको ।

क्षमा, क्षमा ! गर्वोक्ति नहीं यह—
न ही आत्म-शंसा यह मेरी,
मेरी अपनी अभिलाषा की—
सुलझी सी भाषा यह मेरी।

भारत की महानता को यदि—
थोड़ा भी मैं बढ़ा सकूँगी—
उसके चरणों में अपना यदि—
यथा उचित कुछ चढ़ा सकूँगी—

तो भारत सन्तान कहाने—
का मैं स्वाधिकार पाऊँगी !
'जय भारत, जय जन्म-भूमि' के—
गुंजन पर बलि-बलि जाऊँगी !!"

●

सारन्धा

१

आओ, देखो तो आज सही—
बुन्देल खंड की चारु मही,
निरुपम निसर्ग-निष्कृति-कृति से
कैसी अपने में फूल रही।

सरिता धसान का मृदु-मद-रव—
अपने अल्हड़पन से सम्भव,
उन्मत्त बनाता जन-मानस
श्रुत-पुट में ढाल मदिर आसव।

जब दोषा का तम तोम घना—
जग कवल बना लेता अपना,
बतला देता यह निखिल विश्व—
है सपने-सी निष्ठुर छलना।

जब जड़ निस्पन्दित हो जाते,
थक कर चेतन भी सो जाते,
नीरव की सत्ता घूमि-घूमि—
तुड़वा देती जग के नाते ।

तब नभ के तारक नयन खोल—
देखा करते हैं डोल-डोल,
सरसी धसान की मृदु लहरें
इठलाती हैं कल्लोल-लोल ।

वे प्रकृति-सत्य के गीत-भाव—
भरकर, तज कर लौकिक दुराव,
नीरव निशीथ-वीथियों बीच
गाती फिरती हैं सहज भाव ।

उत्ताल तरंगों से निर्मल—
निक्षिप्त मौक्तिक-सरिता-जल,
पा, धोता हिमकर नित उससे—
अपनी किरणों का माल्य धवल !

रूपसी उषा, शैया तज कर—
आपगा-तीर तड़के आ कर—
पाती निखार सौगुना अधिक
रंजित मुख का प्रक्षालन कर ।

रवि, सरि का निर्मल मुकुर बना—
दिन भर उसमें आनन अपना—
देखा करता, देखा, करता—
[illegible]

कूलस्थ विविध वृक्षावलियाँ—
दल-फूल-फलों की भर डलियाँ—
देतीं धसान को भेंट समुद
फूलतीं जिन्हें लख कर कलियाँ।

द्विज मीठी-मीठी तानों से—
रस-भीने कोमल गानों से—
गाते धसान के साथ, विरद—
प्रणवीरों के अभिमानों से।

इस सरि-समीप वह दुर्ग बड़ा—
भूधर-प्रतीक जो अहो अड़ा,
टेकड़ी राज्य का अडिग भूत—
वह बता रहा निर्भ्रान्त खड़ा।

जिन दिनों तख्त ताऊस साज
शाहेजहान था रहा राज;
अनिरुद्ध सिंह से उन्हीं दिनों—
टेकड़ी राज्य था रहा भ्राज।

मुस्लिम-शासन के कुटिल ढंग—
कड़वे मीठे प्रस्ताव-अंग—
आते थे, आये दिन सम्मुख—
ले ले कर, अपने अशिव रंग।

उन घृणित पूय-प्रस्तावों से—
उनके अपूत-कटु-भावों से—
जब अपर राज्य हो जाते थे—
सहमत, स्वमेव सद्भावों से,

तब गौरव थी जिसकी थाती—
वह स्वाभिमान की मदमाती—
टेकड़ी राज्य, निर्भय उनको—
धक्के दे कर थी ठुकराती।

कितने ही मानी आर्य-भूप—
खो कर अपना नैतिक स्वरूप—
गिर मुगलगर्त में डूबे थे,
खनते थे पर को तदपि कूप।

ये देश जाति की विपद् हेतु—
हो रहे दीप्त, बन धूमकेतु,
अपनों का मान मिटाने पर—
बँधते थे इनके यत्न-सेतु।

कुल-कीर्ति-कौमुदी को खो कर—
बेटियाँ और बहनें दे कर—
इतराते थे सम्राटों के—
ये सभी, ससुर-साले हो कर।

अनिरुद्ध सिंह इनको निहार—
कर उठते नीरव चीत्कार।
सम्मान-भाव का स्पर्श उन्हें
कर उठता पागल बार-बार।

कैसे सहते इन बातों को?
मर्यादाओं पर घातों को?
वे बढ़ कर करते शमन सदा—
अरि के अपूत-उत्पातों को।

वे अरि को निष्ठुर आरे थे,
खर पानीदार दुधारे थे।
गरबीले उन्नत मस्तक वे—
गौरव-धन कभी न हारे थे।

वे केवल प्रभु से डरते थे,
उसका ही आदर करते थे।
सम्राट के लिये झुकने में—
वे लज्जा अनुभव करते थे।

लेखनी! आज तुझको लिखनी—
जिसके प्रति पाँतें गिनी चुनी,
वह सारन्धा; थी इन्हीं वीर—
टेकड़ी-नराधिप की भगिनी।

उसने भाई के साथ-साथ—
सब कुछ सीखा था साथ-साथ—
इस युगल-प्राप्ति पर भूरि-भूरि—
टेकड़ी हो रही थी सनाथ।

वह कहने को ही कन्या थी,
सुकुमार-गात नृप-कन्या थी!
पर, सिंह-शाविका वन्या सी—
क्षत्रिय-मर्यादा धन्या थी।

अनिरुद्ध सिंह ही के समान—
उसमें भी द्युति थी दीप्तमान।
अरि की विचार-बारूद हेतु—
चिनगारी थी जाज्वल्यमान।

बाहर से शान्त सोम थी वह।
भीतर से ज्वलित होम थी वह।
राका की उर्वी सी मनोज्ञ—
उद्दीप्त-वृषार्क-व्योम थी वह।

वह उष्ण रक्त की लड़की थी,
जो, भय से, कभी न धड़की थी।
क्षत्रिय-तेजस् की रोम-रोम में—
ज्वाला उसके भड़की थी।

पा कर मार्दव; विकराला थी।
वह ज्योत्स्ना थी, ज्वाला थी।
वह स्वतन्त्रता की मूर्त प्रभा थी,
तम में; तप्त उजाला थी।

भेजतीं बन्धुओं को रण में;
जो पतियों को समराङ्गण में;
जो भेज सपूतों को देती हैं—
जलते संगर प्राङ्गण में—

भारत की सहोदराओं का—
पति-प्राणा उन दाराओं का—
सारन्धा में बहता लोहू, था—
उन्हीं वीर माताओं का।

वह मरने में न कभी कटती,
मारने में न पीछे हटती,
सम्मान-विरुद्ध-विचारों पर,
उसकी न किसी से थी पटती।

अनिरुद्ध सिंह को यदा-कदा—
देती थी वह उद्बोध सदा,
'अरि की आशायें चूर्ण करे—
क्षत्रिय का जीवन सफल तदा।

क्षत्रिय, पीड़ित के लिये लड़े!
पीड़क पर, पवि बन, टूट पड़े।
व्यवधान न इसमें आने दे—
क्षण आयें चाहें क्रूर बड़े।

यह प्राण चले जायें; जायें,
हम अपनी टेक निभा जायें!
नित रहे टेकड़ी टेक मयी,
हम रहें, रहें; जायें; जायें।

अभिमान, मान का धनी रहे,
मर्यादा अपनी बनी रहे।
हम रहें; रहें; या; न भी रहें,
पर, देश-जाति की बनी रहे।

राजस्व लोक में मान भरा;
वर्चस्व धन्य अभिमान भरा,
तेजस्व वीर का वन्द्य वही—
जो शान भरा बलिदान भरा।

हत स्वाभिमान यदि हुआ कहीं;
क्षत क्षत्रिय का यश हुआ वहीं,
फिर आन बान-यश-मान बिना—
क्षत्रिय रह सकता कहीं नहीं।

है विजित जाति दयनीय बड़ी,
अभिशापित उसकी घड़ी-घड़ी।
यह प्राण-मोह के कारण ही—
गति होती उसकी गली-सड़ी।

हम लड़ें अतः; रण में प्रचार,
हैं यही हमारे कुलाचार।
हम देश-जाति के लिये जियें
हम देश-जाति पर मरें मार।

ओ भैया! कभी न हटना तुम,
अरि-सम्मुख डट कर डटना तुम,
दिखलाना पुरुषों का पौरुष—
बन जाना निष्ठुर-घटना तुम।'

भगिनी के जब भी ये प्रवचन—
देते भाई को उद्बोधन,
भाभी को लगता, लूट रहा—
जैसे कोई उसका प्रिय धन।

पड़ता उसका अनुराग जाग,
वह कह उठती संकोच त्याग—
"हो लड़की अभी, न बोध तुम्हें,
तुम जानो ही क्या मनोराग?

अज्ञे! मेरे मानस-तल को—
तुमने है स्पर्श किया पल को?
कितनी कमनीय कामनायें—
हैं, माँग रहीं थोड़े जल को?

तुम मान के लिए मरती हो;
सम्मान के लिए मरती हो,
तुम युद्धानल में फेंक-फेंक—
मेरा धन स्वाहा, करती हो।

यह सीख उन्हें तुम देती हो;
किस जन्म का बदला लेती हो?
मुझ से भी भला कभी पूछा,
किस पीड़ा को ले सेती हो?

क्या बिना नीर की मीन बनूँ?
फणिनी हा मैं मणि-हीन बनूँ?
क्या बिना ज्योति की दीप, हरे—
रे, मैं दुखियारी दीन बनूँ?

वे जीव हमारी देह के हैं;
वे प्राण हमारे गेह के हैं;
मैं उनके बिना रहूँ जीती!
ये सम्भव भी सन्देह के हैं!

माना, कि विचार धन्य तेरे;
पर क्या न विचार्य भाव मेरे?
तुम मर्यादा की धनी रहो,
पर; रहो हमारे भी नेरे (!)"

अज्ञात-अप्रिय से भय खा कर—
अनुराग-रंग में क्षय पाकर—
इस भाँति ननद से कहती, वह—
नव वधू शीतला, अकुला कर।

❀ ❀

वह सरल-हृदय की बाला थी
भोली-भाली मधुबाला थी!
था पीने वाला आज नहीं
सूनी उसकी मधुशाला थी।

उस मुकुलित-कलिका का अलिंद—
सूना रहता, प्रायः मिलिन्द—
उसका, मधुमास मनाता था—
गुंजित कर-कर रण का अलिंद।

रस-रूप-सुरभि की हिलकोरें—
आलोड़ित कर-कर झकझोरें,
आघातों के प्रतिघात घने—
क्षण उसे उछारें, फिर बोरें।

बसु याम कल्पना-कूची से—
वह चित्र प्रणय की सूची से—
नित छाँट-छाँट, मानस-पट पर
लिखती थी, व्यथा समूची से।

वह प्रेम-जगत के सपने में,
विचरा करती थी अपने में,
थी उसकी दुनिया बसी हुई—
अपने प्रियतम के जपने में।

इस लिये ननद के उद्बोधन,
अपने प्रिय के प्रति संबोधन,
थे क्षार मर्म-क्षत पर उसके,
'हा रे निरीह दुखिया के मन!'

कोमल मनुहारों को दे कर,
बदले में टूटा मन ले कर,
दिन रातें बिकल काटती थी—
वह नारी, पीड़ा को से कर।

रवि गिर चुके थे पश्चिमांचल में थके निष्प्राण से,
खर-कर-निकर भी साथ में तूणीर-गत-वर-वाण से।
फिर अनुगता सी लालिमा भी शीघ्र ही जाने लगी,
अभिसार सजि अनुरागिनी रजनी-वधू आने लगी।

कल-विहग-रव-रंजित-महीरुह, श्यामता भरने लगे,
वे हैं न तरु, तम-तरु सघन हैं, प्रकट यह करने लगे।
खिलने नभस्सर में लगे अगणित कुमुद आमोद में,
भरने लगे मृदु-उपकरण-शोभन प्रकृति की गोद में।

अनुकूल अवसर देख, विधु, प्राची-क्षितिज-पट झट हटा—
रजनी-प्रिया से आ मिला, हँसता हुआ भरता, छटा।
नभ प्रणय-शाला बन गया इस भुवन-मोहन खेल का,
आरम्भ अभिनय हो गया 'दो के मनोहर मेल का'।

हँसती हुई विधु की जुन्हाई थी सुधा ढरका रही,
नीरव धरा को प्यार सिंचित मोद से हरसा रही,
पर दे रही थी शीतला को क्लेश-कर पीड़ा घनी,
गत-तोय-सर-शफरी-सदृश थी तल्प पर वह भामिनी।

अम्बुज-नयन में नींद आती, तो भला किस रूप से?
वे लग रहे थे सजल दोनों जब कि गहरे कूप से।
है डूब मरना प्रिय हुआ किसको भला संसार में,
फिर नींद ही डाले स्वयं को क्यों अशुभ व्यापार में?

कोमल करों से कच-निचय का भूरि-भार सँवारती,
तो स्खलित पट को कर ठिकाने से कभी मन मारती।
मंजुल-मृणालों में स्वयं को फाँस कर थी भींचती,
तो थी कभी उच्छ्वास गहरा वेदना का खींचती।

वह तन्वि, तन का भार सहने में समर्थ न आप थी,
तन की अनल में जल स्वयं हत, पा रही संताप थी।
मन के विकारों को सृजन कर जन बुलाते क्लेश हैं,
आश्चर्य ही फिर कौन यदि वे क्लेश-भुक्त विशेष हैं?

कुछ दूर पर बैठी ननद वीणा-विनिन्दित-तान से—
पीयूष थी ढरका रही, अभिमानिनी अभिमान से।
धवलाम्बरा पर स्वर्ग का संगीत थी वह गा रही,
सुनिये अहो न, श्रुत-मधुर-ध्वनि वह अभी भी आ रही।

धरती के गुण-ग्रन्थ-महान!
जय भारत! जय हिन्दुस्थान!!

कोमल-कल-कल-गीत जगाकर कर—
उषा छिटकती मंजुल लाली,
सब से प्रथम सजाता तेरे लिये—
भास्कर, पूजा - स्थाली।

सुधा-सलिल नदियाँ ढरकातीं,
आते हैं घन-श्याम भले से,
शस्य श्यामले! नगपति हिमगिरि—
तुझे लगाये स्वीय गले से।

सुर-बालाओं के कंठों से—
मुखरित हैं तेरे स्तव-गान!
जय भारत! जय हिन्दुस्थान!

श्याम-सलोनी - सुषमा, तेरी—
धरती, धारे प्यारी प्यारी,
धन-धान्यों से भरी उमगती—
खेत-खेत की क्यारी-क्यारी ।

फल-फूलों से बोझिल डालें—
तरुओं को सौभाग्य दे रहीं,
पंछी और तितलियाँ हँस हँस—
अपना-अपना भाग ले रहीं।

मीठी-मीठी साझें तेरी—
मधुर-मधुर नित नये विहान।
जय भारत ! जय हिन्दुस्थान !

वापी - कूप - तड़ाग - सरित्सागर—
मरु - गिरि - वन - उपत्यकायें,
तुझे पखारें, तुझे निखारें
तेरी श्री-समृद्धि बढ़ायें ।

शीतल मलयज, डोल-डोल, पिक—
बोल-बोल कर, तुझे रिझाये,
स्नेहिल रातें सिजिल बनाने को—
हिमकर, पीयूष बहाये ।

मोहक दिन अति मोहक रातें,
जग-मग जग-मग नील-वितान।
जय भारत ! जय हिन्दुस्थान !

तेरी अतिशय मधुर काकली,
तेरी निरुपम श्रेष्ठ भारती।
तेरी है अर्चना मनोहर,
तेरी श्रद्धा भरी आरती।

मसृण हास-ज्योत्स्ना तेरी
पुलक-कुलक है सर्जन करती,
कोमल कण्ठ-ध्वनि की प्रति-ध्वनि—
वज्र-ध्वनि को वर्जन करती,

यदि संकुल-समवेत-कण्ठ से—
करे नाद का तू आह्वान।
जय भारत! जय हिन्दुस्थान!

सत्य-अहिंसा और क्षमा का,
जग को पाठ पढ़ाया तूने,
धरती को परिवार जान कर—
सब से स्नेह बढ़ाया तूने,

किन्तु किसी लोभी की तृष्णा—
तेरे ऊपर यदि ललचाई,
तूने खर-करवालों के, पानी से—
उसकी, प्यास बुझाई।

सिल्यूकश हो या कि सिकन्दर,
सह न सका तेरा पवमान।
जय भारत! जय हिन्दुस्थान?

शुभ्र - मुकुट-कैलाश - विभूषित !
तू मृत्युञ्जय का अनुरागी !
रत्नाकर पर खड़ा अचंचल—
धन्य धरा का धन बड़भागी !

तू शिव शंकर सा वरदाता,
रुद्र सरीखा तांडव कारी,
जन्म भूमि तू, मातृ भूमि तू,
स्वर्ग भूमि मंगल कारी।

करे सुयश-धन-धान्य-ज्ञान—
विज्ञान-ध्यान में अभ्युत्थान।
जय भारत ! जय हिन्दुस्थान !
जय भारत ! जय हिन्दुस्तान !!

कल-कंठ-निसृत प्राण-मय यह गीत प्यार अशेष का—
था भर रहा मानस भुवन में, भव्य भाव स्वदेश का।
थी गायिका ही स्वर्ग बाला सी अहो जब छवि धरे,
तब प्राण-मन-उर-उत्स उसके भाव क्यों न भरें खरे !

इस पार्श्व में थी चल रही यह ननद-कृत आराधना,
उस पार्श्व में थी कर रही भाभी व्यथा की साधना।
होकर अधीरा करवटें थी वह कसक की ले रही,
विरहाग्नि की पीड़ा समेटे कामिनी थी से रही।

थी देव-दर्शन के लिये आराधिका अकुला रही,
थी प्राण मोहन के लिए वह राधिका दुख पा रही।
यह देख कर उसकी दशा तब साभिप्राय विनोद से—
नवनीत सी धारा बही संगीत-कंठ-प्रतोद से।

'निष्ठुर बड़े, निर्दय हरे, बे पीर, निरमोही घने,
मुझ विरहिणी के प्राणधन ! दुःशील तुम कितने बने ?
री, चीर कृष्णा का बनी, कटती नहीं काटे निशा (?)
मोहन ! बचा लो, हाय मेरी दुर्दशा ! मैं परवशा !!'

यह स्वर-लहरि ज्यों ही पड़ी उस दुःखिनी के कान में,
वह छटपटा कर रह गई, थी चोट सी कुछ तान में।
बोली "अरे, क्यों जी जलाती हो, रहो कुछ शान्त भी
रहने न दोगी क्या मुझे पल भर अहो कल से कभी ?"

"लोरी सुनाती हूँ तुम्हें" "सब सुन चुकी, चुप भी रहो,"
"यह, रूक्ष-भावों का, कहाँ से धन मिला, भाभी ! कहो ?"
"तुम को रुचा परिहास, मुझको नींद है आती नहीं,"
"भाभी ! किसी की खोज में ही वह गई होगी कहीं।"

इस क्षण, उभय-तरुणी-वदन, सस्मित खिले पाये गये,
मानो कि हों सर में खिले युग-कुमुद मनभाये नये।
सहसा इसी क्षण सौध पथ के द्वार-पट खट से खुले,
परिहास-रत उन उभय के तब ध्यान आहट से डुले !

देखा उन्होंने कक्ष में आता हुआ अनिरुद्ध को,
उस धीर-वीर, प्रसिद्ध, कौशल-वृद्ध, युद्ध-प्रबुद्ध को।
आयुध नहीं थे, सिक्त था, भीगे वसन थे देह में,
जाने कहाँ से वह कुतूहल सा घुसा आ गेह में।

बढ़ कर वधू ने विहँस अपने प्राण का वन्दन किया,
आभार सिर पर धार प्रभु का मूक-अभिनन्दन किया,
पर दूसरे ही क्षण वहाँ पर शब्द भी ये सुन पड़े !
"भैया, बताओ बात क्या ? इस भाँति क्यों भीगे खड़े ?"

'इस पार्श्व में थी चल रही मृदु ननद-कृत आराधना,
उस पार्श्व में थी कर रही भाभी व्यथा की साधना।'

"कर पार आया हूँ नदी" "आयुध तुम्हारे हैं कहाँ ?"
"रिपु ले गया" "ऐं ! और थे सब वीर सैनिक गण कहाँ ?"
"सब वीर-गति पाकर, सुगति-मय [illegible] लेने गये ।"
"फिर तुम अकेले उस सुगौरव-लाभ से क्यों रह गये ?

हह, आज का यह दिन (!) नियति के व्यंग की यह क्रूरता !!
नारी-शरण में गिर रही शार्दूल-नर की शूरता !
सब देख कर भी गति तुम्हारी, जो कि सम्प्रति हो रही—
विश्वास करने के लिये प्रस्तुत नहीं मति हो रही ।

क्या सत्य ही रण क्षेत्र अपना शत्रु-कर में हो गया ?
क्या टेकड़ी का भाग्य भैया आज तुम से खो गया ?
लिखती रही जो शेल से अरि-पृष्ठ पर निज जय-कथा !
वह टेकड़ी क्या सहती है पराजय की व्यथा ?

तुमने पराजय ली ! अहो, दे पूर्वजों का मान भी !!
यह पण्य कैसा है ? विचारा है इसे क्षण भर कभी ?
स्वाधीनता पर शत्रु-कृत यह घात, कटु अभिशाप है,
अपनी अमल-कुल-कीर्ति पर यह कालिमा की छाप है ।

भंगुर कलेवर ले जियो, कुल कीर्ति थी किस काम की ?
हो नाम की तो क्या हुआ यदि थी न वह कुछ दाम की !
जब लोभ-नेत्रों में समाता दाम किंवा चाम है !
तब मूर्च्छना की गोद में मरता मनुज का नाम है ।

हा, मोह प्राणों का तुम्हें, कर्तव्य-पालन-भार से—
लाया विरत कर, डर गये तुम, मृत्यु की हुँकार से ।
अरि-खड्ग का पानी न पी कर, गिर पड़े सरि-धार में,
सुनियो अनागत के स्वरों में स्वयं को धिक्कार में !"

"बस, अब नहीं आगे बहिन !" वह वीर-पुंगव कह उठा,
क्षत्रीत्व उसकी धमनियों में क्रुद्ध होकर बह उठा।
था हो उठा उसका वदन अब प्राप्त के मार्तण्ड सा,
जँचने लगा साकार अब वह रुद्र-रोष-प्रचंड सा।

कँपने लगा सर्वांग, रद-पुट त्वेष से हिलने लगा,
था आप ही वह आप को तब काटने सहसा लगा।
बोला "अहो अब कील सकता कौन है अनिरुद्ध को,
है कौन जो इस बार करदे शान्त विषधर क्रुद्ध को।

है शान्त कर सकती मुझे अब रिपु-रुधिर की धार ही,
अब मोद दे सकती समर-चंडाग्नि की हहकार ही।
होगा निरत अनिरुद्ध-व्याघ्र अराति-शोणित पान में,
होगा नहीं अब, हो गया, जो हो गया अज्ञान में।"

"तो मैं सजूँगी साज अपने बन्धु के वर गात में,
बसती विजय उत्साह में यह तात रखियो ज्ञात में
कुल की सुकृति-गति-मति सतत सर्वत्र दे मंगल घना,
पाओ विजय" "वा वीर गति के लक्ष्य की शुभ साधना।"

पूजा ग्रहण कर बहिन की वह सुभट द्रुत बाहर गया,
चित्रस्थ सी नव वधू लखती रह गई कौतुक नया !
कुछ दूर तक तो ज्योज्झित-शर-तुल्य वह दौड़ी गई,
आश्चर्य पर वह विस्मिता यह देखती क्या रह गई !

देखा कि, देखा वीर ने ज्यों प्रिया को आया वहाँ,
कूदा किले से और जाने शीघ्र से पहुँचा कहाँ ?
शर-विद्ध मानस-हंसिनी वह मान-ज्वाला में दही—
भू पर गिरी उच्छिन्न लतिका सी न कुछ सुधि-बुधि रही।

परिचारिकाओं ने सपदि व्यजनादिक उपचार से—
आश्वस्त कर, बोधित किया, अपने कुशल व्यापार से।
तब स्वस्थ होकर तन्वि वह विक्षोभ गर्भित मोह से—
अभिभूत हो, बोली ननद से यों वचन विद्रोह से—

"कुल-कीर्ति इतनी प्रिय तुम्हें ?" "हाँ, क्यों नहीं, सविशेष है !"
"होता स्वपति तो जानतीं 'सविशेष' का क्या वेश है ?
लेतीं छिपा निज वक्ष में," "देती चुभा असि वक्ष में।"
"अच्छा समय देगा बता यह स्वयं सर्व समक्ष में।"

❀ ❀ ❀

वाचक ! कथित बातें, उभय-उर में खटक ऐसी गईं,
बरसें गईं थीं बीत, पर वे लग रहीं थीं सब नईं।
अनिरुद्ध भी कब के विजय-श्री-लाभ कर थे फिर चुके,
वैषम्य पर भाभी-ननद का, थे न वह भी हर सके।

'स्वपति न यों जाने देतीं,
डोली बीच छिपा लेतीं !,
समय स्वयं बतला देगा
हंस-न्याय दिखला देगा !

व्यंगाघात स्वभाभी का—
कभी न होता था फीका।
विश्व एक दिन सुन लेगा,
समय स्वयं बतला देगा !

-१-

लेखनी, अब आगे का वृत्त—
उगल, जिज्ञासा-शान्ति-निमित्त।

बहिन सारन्धा के अनिरुद्ध—
युद्ध कौशल में पूर्ण प्रबुद्ध—
जीत कर महरौनी सानन्द—
और कर रिपुओं को निस्पन्द—

आ गये थे सकुशल निज गेह,
शत्रुओं की कर शीतल देह।
टेकड़ी की प्रसन्नता—कोर—
बनी थी हर्ष-पयोधि-हिलोर।

पीठ दी जिसे समझ दुर्दान्त,
उसी का करके विघट नितान्त—
फिरे थे तीन मास उपरान्त,
लाभ कर सुन्दर सुयश वदान्त!

अहो, इस जय का दाता कौन ?
सुयश का सुभग विधाता कौन ?
अयश से भट का त्राता कौन ?
लेखनी ! कह दे, है क्यों मौन ?

'बहिन की उस दिन वाली उक्ति'
'मर्म को स्पर्शन वाली युक्ति!
'यशोमुक्ता की जननी-शुक्ति
मूल में वही बहिन की उक्ति !'

शीतला ने पाया फिर प्राण;
किन्तु कब उसका हो न प्रयाण ?
न जाने कब किस रिपु का वक्त—
छेदने को उसका कर दक्त—

छोड़ दे उस रमणी का मोह,
मचा दे कब न प्रणय विद्रोह ?
वीर पर जमा कहाँ शृङ्गार ?
पूर्व पश्चिम का क्या व्यवहार ?

उसे, उस दोषा का संलाप—
ननद-भाभी का कटु आलाप—
दे रहा था पीड़ा-परिताप,
हो रहा था अभिनव-अभिशाप !

न था तद्भावों का अवरोध,
न दे पाती थी मन को बोध,
भभक उठता था अन्तर क्रोध
किन्तु क्या हो सकता प्रतिशोध ?

'एक गरबीली लड़की हरे!
हमारा धन अंगुलि पर धरे?
नचाये अपने मन का नाच!
लगाये रहे झूठ औ साँच!'

ऊर्मित सरि थी वह सातंक!
कमल थी ऊपर, तल में पंक!
खींचती प्रियानुजा का चित्र,
भरा करती फिर रंग विचित्र।

'ओह मर्यादा का यह खेल!
मरण में जीवन देती ठेल!
भला, कैसा यह मन्त्राचार?
बहिन का भाई पर यह प्यार?

यही तो सुन्दर गौरव-खेल!
न अपनी वर्ति, न अपना तेल!!
पराई गठरी ऊपर छाज—
झींगुरी बैठी, बनी बजाज!!

स्व-प्रिय पर भी वह क्या यों आप—
चढ़ा सकती समरोचित दाप?
नहीं, यह कभी नहीं- वह खार—
एक मुझ पर खाये सविकार।

प्रेम; हाँ, कितना मादक प्रेम!
सुखद भी अवसादक भी प्रेम!
मधुर भी और तिक्त भी प्रेम!
पूर्ण भी और रिक्त भी प्रेम!

ईप्स्य सब को इसका साहित्य,
कौन चाहे गा कटु राहित्य ?
किन्तु फिर भी अनचाहे नित्य—
तपाता मुझे वियोगादित्य !

तीन बरसों का लम्बा समय—
बिताया, सह कर उसका अनय,
सदा ही रही नम्र सानुनय,
किन्तु क्या मिला किया विनिमय ?

प्रणय-मन्दिर से निष्कासन !
वनों में प्रिय का निर्वासन !
विरह का जमा हुआ आसन !
और निष्ठुर मन का शासन !

कुचक्रिन ! अब भी तो री, मान,
अरी, मत रस में विष तू सान !
कर चुकी सब तो मन की बात,
और अब क्या देगी व्याघात ?

न जाने प्रिय भी क्यों चुपचाप—
मान लेते उसका संलाप (!)
प्राण-धन के तो कार्य कलाप—
उसी से प्रेरित होते ! ताप !!

न ज्यों प्रिय का अपना व्यक्तित्व !
न ज्यों अपने पर उनका स्वत्व !
एक लड़की का चले प्रभुत्व !
शोच्य है ऐसा भी पुरुषत्व !!

उसी के अनुशासन का भार—
भले हो मूर्त-मृत्यु-व्यापार,
न करके उचितानुचित विचार—
विवश से कर लेते स्वीकार।

और वह नित्य नये प्रस्ताव—
जुझाने वाले क्रूर सुझाव—
सुझाती, दे गौरव की आन,
और ये बिना, हिलाये कान—

सहज कर लेते अंगीकार,
और जग उठता पापाचार (!)
मरण का चलता हा व्यापार!
भर रहा; जीवन, हाहाकार!

और; मेरा, हाँ मेरा प्यार!
कुसुम सा कोमल गंधित प्यार!
वृन्त पर मुरझाता सुकुमार!!
हाय रे, कितनी निष्ठुर मार (!)

किन्तु वह दिन भी तो है पास,
कि, जब मेरा उसका सहवास—
और नित-नित का यह संत्रास—
टूट जाये गा बिना प्रयास।

देख लूँगी तब वह भी बात!
कि जिसने दे गभीर आघात—
भेज कर प्रिय को रातों-रात—
दिया था मुझे तीक्ष्ण अनुताप।

हठीली कहती थी हठ ठान—
'निभाऊँ गी मैं अपनी आन।'
किन्तु देखूँ गी उसकी आन!
किस तरह से रखती है आन?"

इस तरह गुन कर वृत्त सरोष—
दे रही थी मन को परितोष।
किन्तु कब होता शान्त विकार!
उठ रहा था कुछ हाहाकार।

अचानक पार्श्व-कक्ष को चीर—
आ गये उसके प्रियतम तीर!
अहो, पर उसको इसका ज्ञान—
हुआ तक नहीं, न टूटा ध्यान।

बनी थी यथा पूर्व सी मौन,
भाव जाने तद्धृद्गत कौन?
चिबुक को कराधार दे, आप—
विचारामग्ना थी चुप चाप।

कि सहसा मधुर अमी-रस घोल—
कर्ण गत हुये सु-परिचित बोल।
"प्रिये! वीरोचित-धर्म-निकेत—
सौम्य सद्भावों के वर केत—

कीर्ति के प्रहरी सजग-अनूप—
क्षात्र-गुण-गौरव-धन के स्तूप—
शौर्य के सुघर सुनहले गात्र,
मिल गये मुझे बहिन को पात्र।

प्रिये, वे हैं विश्रुत-गुण-धाम।"
"सुनूँ भी तो उनका प्रिय नाम।"
चौंक कर जिज्ञासा के साथ—
सपदि उठ कर, धरि, प्रिय का हाथ—

कहे पिक बैनी ने ये बैन,
प्रश्न-सूचक फिर फेरे नैन।
किन्तु उत्तर में वह चुपचाप,
हो रही प्रिय-भुज-बद्धा आप।

कहा प्रिय ने धर चिबुक रसाद्रि
"वरोरुह ! हैं वे वीर-गुणाद्रि।
ओरछा उन को पाकर धन्य,
मान्य वे मेरे अहो अनन्य।"

"अहो, क्या चम्पतराय महीन्द्र ?"
"प्रिये, हाँ वही वरिष्ठ क्षितीन्द्र—
सर्वथा सारन के उपयुक्त
मानधर वे अप्रतिम यशभुक्त।"

अपर कक्षासीना चुपचाप—
बहिन सुनती थी मृदुलालाप।
हो चुका था उसको सब ज्ञात—
कि 'चम्पतराय जयी-कुल-जात।

हुआ जब से उनका अभिषेक,
निभाई ठकुराई की टेक।
आज दिल्ली का भी सम्राट—
मानता है उनसे विभ्राट।

कभी का दिल्ली से सम्पर्क,
हो चुका उनके द्वारा तर्क।
करद था जो कि ओरछा तंत्र,
भोगता आज चरम स्वातन्त्र्य!

अभीप्सित मिला मुझे दाम्पत्य,
और अप्रतिम सुहाग-साम्पत्य,
प्राप्ति से उनकी हूँगी धन्य,
वन्द्य वे मेरे सखा अनन्य।'

उसे यह गौरव मय अभिमान,
साधना का प्रतिफल—वरदान—
सदृश था मिला आज, यह देख—
हृदय में पुलकित थी सविशेष।

शीतला को भी थी सन्तुष्टि,
उसे अपनी ईर्ष्या की इष्टि—
पूर्ति का साधन मिला अलभ्य।
और क्या ईप्स्य उसे उपलभ्य।

भाभी थी आनन्द विभोर,
भाई को था हर्ष अथोर।
स्वयं बनी थी घन का मोर,
थे कारण सब के सब ओर।

एक स्वाति जल,
तीन पात्र, फल—

गरल कहीं, मुक्ता कहीं,
तृप्त तृषित चातक कहीं।

३

देवधुनी-कूल का निवास-पुण्य लूटती—
पाशुपत-पुरी काशी लोक-ताप कूटती—
दिये आती जग को न जाने कब से प्रकाश,
ज्ञान का विलास, आर्य-संस्कृति का विकास।

काशी के निवासी, उपमान राजहंस के—
सूर्य वंशी ठाकुर, गहरवार वंश के—
गरुये गुमानी गरबीले गुण-गेह थे,
जाहर जुझार थे, ज्वलंत ज्वाल-देह थे।

परम पराक्रमी प्रतापी शत्रु-तापी धीर—
ख्याति-लब्ध हुये उनमें 'पंचम' प्रधान वीर।
पंचम के यश को पिला कर पीयूष-पात्र—
कर के धरा में धन्य धार आना नर-गात्र—

उनके सुपुत्र ने—'बुंदेल' ने, स्व-भा बगार—
भुवि में बुँदेला-क्षात्र-वंश का किया प्रसार।
आभिजात्य ले कर 'बुँदेल' का महाभिराम—
वंशजों ने पाया लोक विदित 'बुँदेला' नाम।

पंचम के वंशधर होने का महाभिमान—
होने नहीं देता कभी उनको अगतिमान।
कार्य उनके महान होते, नहीं क्रूरता के,
भाव रहते सदैव मानस में शूरता के।

वीरता थी बाँट में, न भूप, सरदार थे
भावि भूप होने के प्रकट व्यापार थे।
देवी विन्ध्यवासिनी के भक्त वे अखूट थे,
नृ थे, किन्तु आततायियों को कालकूट थे।

पा लिया था वरदान देवी के प्रसाद का,
साहस समेटता ही कौन अपवाद का?
अप्रिय में प्रिय का सम्भाव्य प्राप्त करते थे।
साध्य अनुकूल हो सप्रेम उन्हें वरते थे।

वे दिनानुदिन बढ़े आगे चले जाते थे,
'वर' की यथार्थता समीप लिये आते थे।
और, समवेत कर स्वीय शक्ति का प्रसार—
घेर लिया एक दिन जा के उन्होंने 'कुँडार'!

साम-दाम-दण्ड-भेद चतुरंग-नीति से—
हुरमत सिंह को दबोचा पूर्ण रीति से,
मार के 'खंगार' को महीप हुये वीर वे,
आकर निवासी हुए बेतवा के तीर वे।

तब से जुझौती का बुंदेलखण्ड हुआ नाम,
नगर बसाया ओरछा का उन्होंने ललाम।
ओरछा बसा कि सब ओर छा गया सुयश,
पाके अवदात ख्याति ओरछा उठा विहँस।

अधो ऊर्ध्व भूतल के क्रोड में सुहावना—
निर्मित नवीन पुर चरम लुभावना—
बेतवा के वाम-कूल-अंक में दिगन्त-सा—
भ्राज उठा ओरछा धरा वैजयन्त-सा!

रुचिर निसर्ग - दृश्य कोमल-कठोर-से—
परिवृत किये ओरछा को सब ओर से।
आस-पास चारों ओर चारु शैल-श्रेणियाँ,
सुन्दरी धरा की ज्यों मनोज्ञ मंजु वेणियाँ!

उकसे-से शृंग, यत्र तत्र स्तूपाकार दूह,
उद्ग्रीव चौकसी को यथा प्रतिहार-व्यूह!
पथरीली भूमि खार भरकों की भरमार,
सर्वतः दुरुहता का व्याप्त घोर पारावार।

विषम विरूप कठिनाई यातायात की!
पार पाना पथ का थी बात, बड़ी बात की।
छाई चारों ओर ही कठोरता की रूप-रेख,
किन्तु भरी वैसी ही सुघरता भी थी विशेष।

हरी-हरी हरियाली मनोहारी छविमान!
वनों की गहनता बहुलता से प्राणवान!
फूले-फरे तरु, छोटी बड़ी चारु झाड़ियाँ—
धारे उत्क्रोड़ में विहँसतीं पहाड़ियाँ।

मुग्धकारी, मृग-मृग-छौनों की अथाइयाँ,
अरने कहीं तो कहीं पुष्ट वन गाइयाँ।
हिंस जीव-जन्तु निरे चरते-विहरते,
कहीं कोई स्वच्छ मधु-नीर-उत्स झरते।

रूखा और सरस, कठोर और प्यार का—
विहँग-विराव भूरि विविध प्रकार का—
कानन का कुंज-कुंज कलित बनाये था,
विषम विजन बीच चेतन जगाये था।

नेगड़ कौंकेर रिउँज खैर हींस सालई—
झाड़ियों करौंदी झखरीली घनो करघई—
भूमि की विषमता में समता जुटाती थी,
लोभी लोचनों को ललचाती-अटकाती थी।

पूर्व ओर; मीठे कल-गान की हिलोर से—
गाती हुई वेत्रवती बड़े जोर-शोर से—
बहती थी, कमनीयता अपार धार कर,
सौम्य सित रेखा यथा दीप्त पुखराज पर।

ऊबड़ धरा में उठे कूबड़ कठोर जिसे—
नयनाभिरामा महा बेतवा न थी किसे?
भरे द्रव चाँदनी का, चाँदी का तरल ढाल—
करती थी वह देखते ही प्राणों को निहाल।

करुणा की मृदु धार धरती पै ढार-ढार—
निशा में नभस्सर से कुमुद उतार झार—
दीप शशि-रवि के संजो के, अंक धारती—
वीर-प्रसू-भूमि की वह आरती उतारती।

कठिन कठोरता पै मृदुता का साज था,
सारा ही का सारा द्वन्द्व-सृष्टि का समाज था।
यों तो था सभी, बुँदेले प्रमुख तदपि थे,
वज्रादपि कठिन वे मृदु कंजादपि थे।

पारस्परिक व्यवहारों बीच कोमल थे,
किन्तु प्रतिद्वन्दी के लिये वे जाते खल थे।
उन नर-व्याघ्रों की प्रकृति-अनुकूल ही—
था निवास योग्य वह बेतवा का कूल ही।

उत्कण्ठ, नभ-स्पर्शनार्थ अभिलाषी सा—
उच्च दुर्ग ओरछा का, गगन की आरसी सा—
ऊपर था, नीचे था नगर का निरालापन,
देख कर होता था विमुग्ध दर्शकों का मन।

नगर के बीच में नगीना वह रम्य था,
स्वयं समान स्वयमेव भव्य हर्म्य था।
पक्का परकोटा -पर-पक्ष को चुनौती था,
किंवा पौर-जनों की सुरक्षा की मनौती था।

गमनागमन हेतु चारों ओर एक-एक—
द्वार, प्रौढ़ अर्गल समेत, दृढ़ता की टेक—
गहे था, सतर्क द्वार रक्षक उछाही थे,
शस्त्रधारी वे जुझार विकट सिपाही थे।

वाहिनी - विशेष का था दुर्ग ही निवास-स्थान,
शेष रहती बाहर वितान बहु तान-तान।
झुंडों ही वितुंड थे, तुरंगों की कतारें थीं,
खड्ग भल्ल परशु थे, ढालें तलवारें थीं।

गहरे निशाने बाज तोपची न कम थे,
उन्हीं जैसे धन्वाधारी अपने में क्षम थे।
कोई अंग, हीन न था, सेना चतुरंग थी;
भरे उत्संग में वह रण की उमंग थी।

यतः सेना पुष्ट थी लड़ाकू थी गजब की,
अतः राज्य में सु-शान्ति; अपने ही ढब की—
रहती थी, धाक थी प्रभूत उन नुकीलों की,
मानते थे बड़े-बड़े आन उन पनीलों की।

चलते अखाड़े, उन वीरों के किशोर बाल—
सीखते प्रहार की बचाव की अचूक चाल।
तीखे अस्त्र शस्त्रों पै नये हाथ माजते,
खड्ग-भल्ल-मुद्गर-परशु-शेल भाँजते।

लासों की, विलासों की न प्यास आने देते तीर,
छेदने को उसे, उनके उठते नुकीले तीर,
रखते परख नित्य वंश और बाने की,
चूकते न चाल कभी कोई ठकुराने की।

अन्तःपुरों में बालिकायें भी न पीछे थीं,
युद्ध की कलायें सभी जाने और सीखे थीं।
लक्ष्य वेधने में लेतीं भाइयों से होड़ वे।
देतीं तब उनका गुमान घना तोड़ वे।

बाहर से भीतर लों यों अपूर्व साज था,
अपना अनूठा गठा उनका समाज था।
चढ़ा-बढ़ा एक पर एक भट-शूर-वीर!
प्रकट प्रफुल्ल वीर रस का यथा शरीर।

मूछों पर ताव, भाव भृकुटी में ऐंठता !
देखते उरों में उड़ और अड़ बैठता !!
साहस करे ही कौन नाग हुशकाने का ?
साभिप्राय-दृष्टि एक ओरछा पै लाने का ??

छेड़ा भी किन्नी खोनेदेड़ता गया वह तूर्ण,
कितने ही क्रान्त ओरछा में आके हुए चूर्ण।
देहली सम्राट शाहजहाँ ने, सफलता—
कैसे कुछ पाई थी, था वह ही समझता ?

ओरछा के नृपति 'जुझार सह' के लिये;
उसने न जानें अभियान कितने किये !
जीत लिया ओरछा, न जीत पाया किन्तु वह—
विकट बुँदेलों के मनोबल का सिन्धु वह।

खो कर स्वतन्त्रता वे और भी प्रचंड हुए,
प्रतिशोधनार्थ उत्थित उनके कोदंड हुये !
'आगरा का तख्त' लक्ष्य एक मात्र उनका था।
उसको छकाना वा थकाना पक्ष उनका था।

उनका नेतृत्व नया हुआ था उदीयमान,
'चम्पत' के यौवन में शौर्य का उठा उफान।
सजग सतर्क सावधान उसमें 'वीर' हुआ,
फूट पड़ा तेज गात-गात में अधीर हुआ।

चोट खाया हुआ काला नाग स्वाभिमान में—
तच कर छूट पड़ा आगरा के सामने।
मुगल-वितुंड-व्यूह पर बाघ भूका सा—
टूट पड़ा चम्पतराय, शक्ति का भभूका सा !

छीन ली स्वतन्त्रता स्व, मुगलों की दाढ़ से,
लगा अब बढ़ने वह एक नई बाढ़ से।
अनिरुद्ध सिंह ने कृतार्थ हो के स-हुलास—
पाया इन्हीं दिनों उस से बहनोई का मिठास।

सोने में सुगन्धि चारु भर गई ओरछा में,
बाती नई जग गई पाके स्नेह ओरछा में।
प्रकट प्रमोद फूट उठा देह-देह में,
'ओरछा की रानी आगई जो स्वीय गेह में!

बज उठीं प्यार भरीं मंगल बधाइयाँ,
चित्त को चुराती हुईं मीठी शहनाइयाँ।
व्योम के नक्षत्र ओरछा में हुये दीप्यमान,
दीपावलि रूप में मुखर उठे मन-प्राण।

ओरछा ने पाई सु-मनोज्ञ-मना मूर्ति वह!
पाई यथा दिव्य साधना की पुण्य-पूर्ति वह!
पाया इतिहास ने भी पर्व-एक, गर्व का,
एक में ही प्राप्त हुआ प्राप्य अहो सर्व का।

नवोल्लास ! नव मंगल पर्व!
अहो, प्राप्त था—सबको सर्व !

●

—४—

विधे ! अहो, हो धाता तुम्ही,
भली और बुरी के!
किसको विश्रुत नहीं कृत्य—
तव विषम चातुरी के।

कुछ थे ऐसे जोग जुड़े
जिससे बुन्देला चम्पतराय—
राज्य पहाड़ सिंह को देकर
आप रहे दिल्ली में आय।

शाहजहाँ का यौवन तप कर
अब चलता था वार्धव-काल,
और शाहजादा दारा था—
राज्य-कार्य को रहा सम्हाल।

थी युवराज सुशील सौम्य—
सहृदय उदार मानव-शोधी,
'चम्पत-शौर्य-शैल' से टकरा—
कर, वह हुआ सन्धि-बोधी !

थी जागीर कालपी की,
नौ लाख आय जिसकी प्रतिवर्ष,
गुण - ग्राहकता - प्रमाणार्थ दी
आदर पूर्वक उन्हें सहर्ष।

यह था पहला समय, कि जब—
थी पहले वाली घनी अशान्ति—
दूर हुई, सब झगड़े झंझट—
कलह मिटी, पाई नव-शान्ति।

शान्ति काल का सुख-बसन्त—
फूटें मृदुलांकुर फिर कैसे न ?
अनुरक्तों की फिर मति कैसी ?
जब विरक्त ही स्थिर रहते न !

फूट पड़े अँखुये भावों में—
नृप के रस में उठी उँडेल,
अँगड़ाइयाँ उठीं किसलय सीं—
मादकता की केलि सकेल।

लास-विलासों का सम्बर्द्धन—
नव-सुख, मोद-विनोद - सुयोग—
खींच ले गया बुन्देला को—
नित्य-नित्य का दुर्लभ भोग।

किन्तु बन गया सारन्धा को—
यह सुख-भोग भयानक रोग,
मुख से केवल निकल रहा था—
'हा रे दैव ! हाय संयोग !!'

सभी रानियाँ ता भूपति की—
सजती थीं नित नव शृङ्गार,
किन्तु न जाने उनकी सारन—
ठुकराती थी क्यों सुख - संसार (!)

आज भर रही मधुर छटा थी—
अतिशय अद्भुत भूतल पर,
प्रकृति कान्ता मुखर रही थी—
सज-सज नव-नव पल-पल पर।

गन्धित मन्थर गन्धवाह—
गुद गुदा रहा था जीवन को,
था भर रहा मधुर भावों में—
वह वलात् अग-जग-मन को।

किसलय-स्पर्श पा लगी हँसने—
नवल आम्र की मंजरियाँ,
चारु द्रुमों का प्रिय परिरम्भण—
करने लगीं सु-बल्लरियाँ।

कोकिल का कल-स्वन, कुछ—
करने पर, देने सा लगा जोर,
मन-मन में उठ-उठ कर कोई—
तन-तन को था रहा झकार।

राजा भी न सम्हाल स्वीय को,
अपना रिक्त-पात्र भरने—
पहुँचा रानी पास, पूर्ति का—
लगा उपक्रम वह करने।

"प्रिये, देखता हूँ कुछ दिन से;
विधु-मुख का है क्षीण प्रकाश,
ऐसा क्यों हो रहा, न रुचता है—
क्यों तुम्हें हास परिहास?

क्या मुझ से बन पड़ा अप्रिय कुछ,
क्यों सारन! क्यों हुई उदास?
कुछ तो आखिर समझ पड़े भी!
सरसिज का क्यों रुका विकास?"

"नहीं नहीं, प्रिय; यह विभ्रम है;
नहीं आप के युक्त विचार,
दासी में है नहीं स्वल्प भी—
जैसा समझे आप विकार।"

"मेरा भ्रम? अभ्राच्छादित मैं—
स्पष्ट देखता अपना चन्द्र,
देख नहीं अब पाता, पहले—
जैसा अपना पंकज मन्द्र।"

"हो सकता, हो दृश्य यथावत्,
दृष्टा - दृष्टि - विपर्यय हो!
और दृश्य के आभिजात्य पर—
दृष्टा का यह पर्यय हो!!"

कहते कहते रदन-छदन के—
कोण खिंचे दायें बायें,
अहा! कुन्द के कुड्मल भी—
इस दन्तावलि पर सकुचायें!

"दृष्टि दोष हो गया न मुझको"
नृप बोले "मेरी रानी!
बदल चुकी हो बहुत-बहुत—
अपना स्वरूप, तुम कल्याणी!"

"नाथ, तुष्ट हैं जहाँ आप
सब भाँति अनुचरी वहाँ प्रसन्न।"
"तो क्यों देख रहा सुमुखी!, मैं—
तुमको नित्य विषण्य विपन्न?

आ कर यहाँ कहो सारन, क्या—
भूल चुकीं अपना अनुराग?
बीड़ा भी तो नहीं खिलाया
नहीं सँवारी तब से पाग।

सोम-मुखी! हाँ तुम्हीं कहो न!!
तब से सोमासव का पान—
कभी कराया भी भूले से?
या कि सजे तन पर परिधान?

है विषाद-मय यह परिवर्तन—
कैसा, कुछ भी तो हो भान?
प्राणाधिके! प्रणय-लतिका तो
नहीं हो गई है अब म्लान?"

सुनना था इतना, कि हृदय—
भर आया, छलका खारी नीर,
"नाथ, चाहते हैं जो उत्तर;
खेद; नहीं वह दासी तीर ।"

कह कर मौन हो गई रानी,
पर राजा को इससे तृप्ति—
हुई न रंचक, लगे शोधने—
उपादान, वे अस्थिर चित्त !

उधर भर चुका था मानस-घट,
उफन पड़े उसमें से भाव—
"स्वामि ! सत्य ही चित्त-वृत्ति में—
हुआ न जाने कैसा घाव !

खिलूँ कमल सी बहुत चाहती;
करती भी हूँ यत्न अशेष,
किन्तु न जाने मन कैसा—
बैठता जा रहा और विशेष ।"

था बुन्देला राग - रंग में,
सूझ रहा था उसको मोद,
उसने सोचा, है रानी का—
आज नया यह मान विनोद ।

अधरों पर उल्लास जग उठा—
"प्रिये ! तुम्हारी मन की भूल !
और नहीं हो सकता है, इस
दैन्य-भाव का कारण-कूल ।

मैं जानना चाहता हूँ—
वह कौन स्वर्ग-सुख ? जिसका लोभ—
पूरा हुआ ओरछा में, पर—
यहाँ अभाव दे रहा क्षोभ ?"

"अहो, क्या कहा ? कौन स्वर्ग-सुख ?
और बताऊँ मैं ही आप ?
अच्छा सुनिये" वक्र हो उठे—
उसके दोनों काले चाप !

देखी राजा ने जब अपनी—
प्रेयसि की परिवर्तित मूर्ति,
दीप-शिखा को निष्प्रभ करती,
और उगलती क्रान्ति-स्फूर्ति।

आँखों के दोनों शीशों में—
पड़ा न उनका आसव दृष्टि,
देखा, ज्वाल-गोलकों में थी—
उबल रही-सी तीखी सृष्टि।

मीठे मीठे उनके सपने—
उखड़ गये आते - आते,
अरमानों के मादक प्याले—
लुढ़क गये तब, उफनाते।

रंग भंग हो गया, नशा सब—
उचक गया तब भूपति का !
हुआ प्रेयसी द्वारा अभिनव
अद्भुत स्वागत जब पति का (!)

"नाथ ! ओरछे में क्या थी मैं ?
और यहाँ क्या हूँ ? यह बात—
मुझ से आप पूछते हैं, तो—
सुनिये पंचम - वंश - सुजात !

'राजा की रानी हो कर' मैं—
रही ओरछा में हे थी कान्त,
आज यहाँ 'जागीरदार की—
चेरी' बन कर हूँ, उद्भ्रान्त।

जिसे आज आदर से नत हो;
अपना भाल झुकाते आप,
वह भारत-सम्राट आप से—
क्या न पा रहा था भय-ताप ?

रानी से चेरी बन कर भी—
होऊँ सुखी; चाहते नाथ ?
तब तो ऐसे सुख-विलास में—
डाल चुकी यह दासी हाथ "!'

यह पद और विलास-वस्तुयें !
सब कुछ दे कर ली हैं, ओह !
क्या न इन्हीं महँगे दामों ने—
बढ़ा दिया है इन पर मोह ?

देखो वह कपोत-दम्पति !
हँसते हैं प्रिय की गति पर व्यंग,
कीर तरस खाते विलोक कर,
आज प्राण का कलुषित ढंग।

'कंकड़ चुन-चुन कर रहते हम—
आजादी में सदा मगन,'
'रहना पड़े न सोने के पिंजर में-
बन्दी बन भगवन !'

इनकी तो ये अभिलाषायें !
और आप का यह बहना !
इन आजाद परन्दों से भी—
गिर कर हा कैसा रहना !!

•

अपनी वेत्रवती में देखो !
कितना उज्ज्वल जल बहता ?
क्या बन्दी हो कर भी प्रियतम !
इतना ही निर्मल रहता ?

बन्धन बद्ध-विन्ध्य को देखो !
नहीं उचक अब पाता है !!
जड़ की यह गति ! फिर अपना—
बन्धन से कैसा नाता है ?

बन्धन शोभन हैं वे अपने,
देते जो हमको उत्कर्ष,
बन्धन नहीं, उन्हें हम कहते—
'मर्यादा' अथवा 'आदर्श'।

मर्यादानुकूल ही अपने—
साधन हों, हों अपने साध्य,
हमें हमारा बता गये आदर्श,
हमारे ही आराध्य।

राणा भी तो हो सकता था—
भारत का वैभव-भोगी ।
फिर क्यों फिरा अरे वन-वन में
अलख जगाता वह योगी ?

गिरि-गर्तों में कभी विवर्तन ?
कभी शिखर, तो कभी विजन ?
आन मान के लिये शान से
करता ही वह रहा व्रजन ।

टुकड़े-टुकड़े पर हा भूखे—
उसके बच्चे फूट पड़े !
हरी घास की हृत - रोटी पर—
उनके आँसू टूट झड़े !!

मन का धनी किन्तु राणा था !
था न तुम्हारा सा लोभी !
क्षत्रिय क्या है ? पता चल गया—
था, इसका अकबर को भी ।

उसके चेतक की टापों पर—
गर्व कर रहा राजस्थान,
एक वीर था वह हिन्दूपति !
एक आप का यह अभिमान (!)

नन्हीं सी जागीर पा गये,
मेरे राजा फूल गये !
हः (!) इन क्षणिक विलासों पर—
सब गौरव-गुरुता भूल गये !

भित्ति-मुकुर में देखें भी तो,
आज स्वयं को राजन् ! आप (!)
क्या न दिखाई पड़ती मुख पर—
हीन-भाव की गहरी छाप ?

क्या न आज उन्नत मस्तक पर—
झलक रहा है दारुण दास्य ?
क्या न आज मर्यादा पर—
छा रहा जुगुप्सा - मय उपहास ?

फिर भी मुझ से पूछ रहे हैं (!)
'कौन स्वर्ग-सुख जिसका लोभ
पूरा हुआ ओरछा में, पर-
यहाँ अभाव दे रहा क्षोभ !' "

भूप सुन रहे थे नीरव थे,
उन्हें भान यह हुआ वहाँ—
मानों किसी शंकु ने सहसा—
सिर में व्रण कर दिया वहाँ !

धोखे में या मानों उनके—
छू विद्युत का तार गया,
एँडी से चोटी तक उनका—
हिल शरीर-संसार गया।

दृष्टि-दोष मिट गया, हट गया—
आँखों से कुछ पर्दा-सा,
उनके मुख से निकल पड़ा तब—
'हाय ओरछा की आशा !'

मातृ-भूमि की छटा सलोनी—
किसने उनके नभ पर खींच—
दीना और विवर्णा चित्रित
करदी अरे, निमिष के बीच।

सुना कह रही वह "बेटा, यह—
तो पुरुखों का धर्म न था,
जिसे आज तू वरत रहा—
यह कुल का शोभन कर्म न था!

आ जा मेरे पूत! तुझे—
छाती से लगा जुड़ाऊँ मैं,
अपनी संचित मनुहारें ले
तुझ पर बलि-बलि जाऊँ मैं।

तेरे लिये लाल! मैं उर में—
भरे छलकता पय मीठा,
आ जा, एक बार आस्वादन—
कर ले, नहीं हुआ सीठा!

तेरे विना आज यह मेरी
कैसी दशा हो गई देख!
रूठ न मेरे वत्स, अरे टुक—
मुझ दुखिया माँ को भी देख!!

भूप रो पड़े, मातृ-चित्र ने—
कर दी निर्मल दृष्टि वहीं,
तन्द्रा उनकी गई, हो गई—
नव जागृति की सृष्टि वहीं।

आज उन्होंने पढ़ी सजग हो;
उस देवी की मर्म-व्यथा,
और व्यथा में जन्म-भूमि की—
पढ़ी उन्होंने मर्म-कथा।

आज ओरछा के चिन्तन ने—
रुला बुन्देला को डाला,
क्या जाने रानी ने कैसा—
पिला दिया गहरा प्याला !

पति ने पत्नी को पहचाना,
पहचाना उसका आदर्श,
गद्‌गद् था वह आज—
भरा था रोम-रोम में उसके हर्ष।

एक साथ, अपनी सारन में—
भव्य-भाव, अकलंक मयंक—
पा कर, पुलक प्यार से उसने
उसे भर लिया अपनी अंक।

।

नीरव-निशा सो रही थी,
कोकी खेद खो रही थी।

पा मयंक वह थी विकसी-
सारन भी प्रिय-बाहु कसी—

अतिशय हर्ष-विभोरा थी,
चम्पत - चन्द्र - चकोरा थी।

●

—५—

गये हुये दिन फिर फिरते हैं,
आज ओरछा के फिर भाग्य—
फिरे, भ्रान्त सुतने, फिर से है—
किया स्व-जननी से अनुराग।

सुत ने जननी पहचानी,
मा की आज कसक जानी।
जननी भी सब भाँति सुखी,
बड़ - भागा गर्वोन्मुखी।

सुत को लाड़ लड़ाती थी,
फूली नहीं समाती थी,
अहो बुन्देल - खंड - महिमा !
तेरी यशोमयी गरिमा—

किसे नहीं स्पर्द्धा देगी !
किसका हृदय नहीं लेगी ?
तेरी गौरव - ग्रथित - कथा—
राष्ट्र - भावना - मयी, तथा—

ज्योत्स्ना-सी रम्य भली,
शुभ्र यथा हो कुन्द-कली,
शोणित पी कर जो कि पली !
अपने पथ से कब बिचली ?

बुन्देलों का खंड अहा !
कितना गर्वोद्दण्ड अहा !
कण-कण में बलिदान भरा,
वीरों का अभिमान भरा,

वीर-वंश का मान भरा,
शान गुमान महान भरा।
भरा और भू पर बगरा—
तेरा कनक - सुयश - अगरा।

हुये यहाँ नरमेध घने,
सदा गर्व के ठान ठने;
यश के धवल वितान तने,
शोणित से तन-प्राण सने !

भाल आज भी उन्नत है,
उसका गर्व समुन्नत है !
आज निहाल ओरछा है,
हर्षोत्फुल्ल ओरछा है।

उस जैसा सुख मिला किसे ?
खोया धन है मिला उसे।
उसके राम आ गये हैं,
सौख्य-वितान छा गये हैं !

ध्वनि से धुनी गा रही है,
मंजुल छटा छा रही है।
प्रकृति विकच है तन-मन में,
गाँव-गाँव में वन-वन में।

भूप-सौध आमोद भरा,
वह देखो कितना सुथरा ?
कहीं न मैला लगता है,
बरबस मन को ठगता है।

उस जैसा धन किसमें है ?
विपुल-गर्व-धन उसमें है।
रानी मोद भरे मन में—
तितली थी गृह-कानन में।

विश्व-निकाई तन पर थी,
गहरी क्षमता मन पर थी।
सु-स्मित मंजु वदन पर थी,
फूली हँसी रदन पर थी।

मानों नदी नवेली ने—
और प्रकृति अलबेली ने—
रानी का वह छीन लिया—
जो विषाद था गया दिया।

उसके मुख की अब लाली,
हुई अनोखी द्युति वाली।
अरे, आज दिल्ली वाली—
राहु-ग्रस्त - शशि - उजियाली—

आकुल मलिन खेद वाली—
चिन्तित मूर्ति भेद-वाली (!)
सहसा कहाँ विलोप हुई?
'वेत्रवती में लोप हुई।'

राजा की विलास प्रियता!
शोचनीय वह निष्क्रियता!
नित्य-नित्य के गाने वे!
नृत्य-कृत्य मन - माने वे!

वे अल्हड़ उन्माद भरे—
मनसब दारी ठाठ खरे!
सहसा कहाँ विलीन हुए?
'वेत्रवती में लीन हुये'

अरे, बदल सब साज गया,
बदल विलास-समाज गया!
नित का 'अर्ज़-आदाब' गया!
'हाज़िर' और 'जनाब' गया!

गया मोह, अभिशाप गया,
सिर से भारी पाप गया!
सब के सब ये गये कहाँ?
'वेत्रवती का गर्त जहाँ।'

दृष्टि खुली व्यामोह गया,
मन का ऊहापोह गया,
क्रम-क्रम का अवरोह गया,
सब कुछ अर्जन (!) ओह ! गया !!

नलिनी-उर का खेद गया,
तुहिन गया, निर्वेद गया,
ये सब के सब सब गये कहाँ ?
'वेत्रवती का गर्त जहाँ।'

गई तमिस्रा घोर महा,
प्रातर्वेला हुई अहा !
कलित-कीर्ति आकृष्ट हुई,
भद्र-भावना दृष्ट हुई।

जगा नया उल्लास-प्राणमय,
नृप में ही वह नहीं—
आरछा के कन-कन में;

प्राप्त-विसर्जन का, यह विस्मय (!)
गर्व भर रहा था—
गौरव का, जन-जन-मन में।

●

—६—

शुभ्र चन्द्रिका छिटक रही थी, धवल धरा थी,
विश्व-निकाई लेकर मुखरित वसुन्धरा थी,
नील-गगन से ज्योत्स्ना का निर्झर झरता,
तम से मलिन विश्व पट को था निर्मल करता।

वासन्ती-उन्माद-भार से भरा, समीरण—
वाहित था, था प्राणशक्ति से प्लावित कण-कण।
क्षण-क्षण पर कोई अदृष्ट प्रेरित करता था।
प्यार के लिये, एक दुराग्रह सा करता था।

दृश्य-मुग्ध-दम्पति, न इस समय तक सोये थे,
नैश-प्रकृति की छटा देखने में खोये थे।
नृप ने देखा धवल-अम्बरा वेत्रवती को,
कर-पीड़ित कर, किया प्रबोधित प्राण-सखी को।

"भद्रे ! कितनी शान्त आपगा की धारा है ?
उभय पुलिन के बीच दृश्य कितना प्यारा है !!
दिन दिन भर अविराम ऊर्ध्व-गति-मती हमारी—
सोती कैसी अहो वेतवा है सुदकारी ?

मेरे दोनों बाहु, बनें दो कूल निराले !
और बहो तटनी बन कर, इनमें तुम बाले !
प्रणय-सिन्धु में मिलने की, हो फिर तैयारी (!)
क्यों न, बात यह रुचि कर है तुमको भी प्यारी !!"

विहँस उठी हर्षातिरेक से, बोली रानी—
"हाँ, कितना सुन्दर होगा उस सरि का पानी !
प्रिय-भुज-कूलों में बन कर सरि ता सुखकारी—
लोक के लिये होऊँगी मैं मंगल - कारी।

जन-खग-मृग-नग और विटप-पशु सब सुख पायें,
हम से होवें हरे भरे, सरसें; हरसायें ।
जीवन अपना हो न स्वार्थ के लिये हमारा,
हम जग के हों और जगत हो अपना प्यारा।

वेत्रवती ने है किस-किस की प्यास बुझाई !
गन्ध स्वार्थ की, कभी न उसको, अब तक आई।
निर्मल जल सब के शीतल करने को लाती,
पीती है कब स्वयं ? लोक का हृदय जुड़ाती।

लता-गुल्म-वीरुध-तृप सब ही पाते पानी,
कीट-सरीसृप-खग-पशु-जन,—सबकी कल्याणी।
गाकर कल-कल गीत कर्म-निष्ठा-रत अहरह !
देती है वरदान जगत को सरिता बह-बह।

प्रिय की अभिलाषा है क्या ऐसी ही सुन्दर ?
तब मैं इसके लिये, प्राण से प्रस्तुत प्रियवर !"
भूपति हँसने लगे युक्ति सुन कर प्यारी की,
बोले "तुमने समझ न पाई मेरे जीकी (!)

तटनी के कूलों पर, देखो, वे मन-मारे—
बैठे हैं दो खग, कितने दुखिया बेचारे ?
किस अदृष्ट का शाप (!) इन्हें पीड़न करता है ?
चक्रवाक, बिछुलन की आहें क्यों भरता है ?

चाहें तो क्या नहीं प्रणय की रातें पावें,
बड़े हठीले, एक दूसरे को कलपावें।"
"प्रियतम ! अपनी आन नहीं खग जग भी छोड़े,
कितना भारी त्याग ! रात्रि में जोड़ा फोड़े !

और मनुज हो कर हम इतना गिर जायें ?
ध्येय छोड़ कर पथान्तरित इतना हो जायें ?
जिस सुख को मानव सर्वोत्तम मान रहा है ?
चकवा-दम्पति कर उसका अवमान रहा है।

और निभाता मान, आन का, हठ सा ठाने,
कोई गौरव भरा त्याग इनका पहचाने !
मिलन-निशा, होती हो कितनी ही सुखकारी (!)
पर महत्व कब देता उसको गौरव-चारी ?

स्व-प्रवाह में ले जाता है मोहावर्तन,
मानव को कर्तव्य मार्ग से करता उन्मन।
हम को पहले ध्येय, ध्यान फिर पर का आये,
आर्य ! क्षात्र-सम्मान न क्षत्रिय कभी भुलाये !"

"तो मानूँ मैं यह कि, आन है नदी तुम्हारी ?
चक्रवाक के तुल्य और है स्थिति हमारी ?"
"हाँ प्रियतम ! कर्तव्य-निशा पूरी होने पर—
ध्येय-प्राप्ति का स्वर्ण-प्रभातोदय होने पर—

हम लोगों का प्रणय-मिलन का दिन होता है,
इस से पूर्व न शिथिल नियम-बन्धन होता है !
जब कि हठोले खग भी गौरव से परिचित हैं !
फिर हम मानव (!) ध्येय हमें तो पुरुषोचित हैं ?"

स-स्मित नृप ने कहा "अहो, सारन ! सच मानो,
लगती है प्रिय बहुत ठान जो भी तुम ठानो।
सुतनु ! तुम्हारे लिये, हमें अभिमान बड़ा है,
तुमने गौरव में मेरे, सौन्दर्य भरा है।

संसृति के व्यापार, शुभे ! यद्यपि सुखकारी,
पर मानव-कल्याण-हेतु हैं बन्धन-कारी।
तब यथार्थ तो यह कि न मानव दानव होवे,
सौम्य भाव में भरा निरा वह मानव होवे।

आने दे न, कभी नरता में ईषत् अन्तर,
मानव मानव-मात्र से करे प्यार निरन्तर।
सब, सब के प्रति, प्यार हृदय में भरे हुये हों,
सब के हित सद्भाव, भाव से, वरे हुये हों।

प्यारे प्रभु से नित-नित नव अनुराग बढ़ायें
लौकिक सुख के साथ अलौकिक को भी पायें।
होना तो चाहिये 'यही शिव' इस भूतल पर,
पर, मानव बन रहा आज है एक बवंडर।

वह पीड़न, अविचार, अनय, छलना करता है,
मन में धूर्त, मधुरता रसना में भरता है।
नित जीने के लिये मरा क्षण-क्षण करता है,
चारु गात में भरा प्रपंच-कला करता है।

दलित बना कर एक एक को, ऊपर उठता,
हत, मानव के हाथों मानव आकुल घुटता।
बना हुआ वृक, विचर रहा वह, धरती ऊपर,
दुर्गन्धित हो रहा वात है उसको छूकर।

मद में हो कर चूर बढ़ाता कोई सत्ता,
वैभव, भव-साम्राज्य, शक्ति, सत्कीर्ति, महत्ता।
पतन एक का, होता है उत्थान अपर का,
दैव! बन रहा ध्येय आज है यह इस नर का।

इसने ही साम्राज्य-भावना को पनपाया,
अपनी, प्रकृति-मनुजता को कच्चा धर खाया।
चाह रहा प्रत्येक अपर को मैं खा डालूँ,
और प्राप्त-सत्ता से अपना पेट बढ़ा लूँ।

मानव की, इस ही अतृप्त इच्छा का, फल है—
गरजा करता जो कि समर में दल-बादल है।
फिर भी इच्छा पूर्ण न होती जेता जन की,
बढ़ती ही जाती अभिलाषा पाजी मन की।

पाता चैन न विश्व, बज रहा लोहा रण में,
समझे गा हे प्रभो, न जाने यह किस क्षण में।
यदि सब में समभाव धरे यह धरती का नर,
समझे सब को स्वेव, प्यार प्राणों में भर कर—

एक अपर के सुख से मन में मोद बढ़ाये—
पर के दुःख में साथी बन कर हाथ बटाये—
सह अस्तित्व सहन करले गुर्राना छोड़े,
श्वान नहीं इन्सान बने, सबसे हित जोड़े।

अहो प्रिये ! तब यह जग होता कितना प्यारा ?
बहती मंजुल जब कि प्यार की निर्मल धारा।
द्वेष द्रोह-मत्सर का तब अस्तित्व न खलता,
छीन-झपट में कभी न कोई पर को छलता।"

"हाँ प्रिय, ये सु-विचार आप के अहर्णीय हैं,
पर मानव के भाव तो रहे मानवीय हैं ?
देव नहीं बन सकता वह," "पर दैत्य भी न हो।"
"और दैत्य वह बने ?" "तो उसकी उचित अगति हो।"

"सत्य ! सत्य ! प्राणेश ! यही तो मैं कहती हूँ,
और अनय के सहन पर न प्रस्तुत रहती हूँ।
कोई भी पीड़ित आकर जब हाथ पसारे,
प्रिय, समुचित तब यही कि उसको सपदि उबारे,

और इसी में क्षात्र-धर्म की निहित, कहानी,
दुर्बल का हो त्राण, प्राणहत हो अभिमानी।
दया-अहिंसा-क्षमा मानवोचित सद्गुण हैं
पर अपात्र के साथ आचरण में अवगुण हैं।

अन्ध-अहिंसा कायरता कहलाती प्यारे !
यदि स्वतन्त्र करती हो वह हिंसक हत्यारे।
दया-भीरु हम लोगों को यह कुफल मिला है—
अपना भारत देश हाथ से गया चला है।

और आज भी यदि भूलें हम दोहरायेंगे—
तो समझो हम और दूर होते जायेंगे।
व्याघ्र-जगत के साथ, क्या क्या ? और क्षांति क्या ?
धेनु-भाव से उसमें रहना नहीं भ्रांति क्या ?

राजा का उपयोग है कि वह शासन धारे,
अनय और अतिचारों का जन-कष्ट निवारे।
कर, ले कर, उपयोग प्रजा के हित में लाये,
सुख-समृद्धि विद्यादि कलायें सतत बढ़ाये।

किन्तु वही राजा, यदि हो जावे अविचारी,
निपट निरंकुश, शोषणकारी, मिथ्याहारी,
और प्रजा को लगे मानने सुख का साधन,
बन जाये जो भार स्वार्थ का कर आराधन—

उस नृप के प्रति, धर्म यही, विद्रोह खड़ा हो,
और प्रजा-पद-तल में उसका मुकुट पड़ा हो।
प्रजा-क्रान्ति, दे मिटा उसे, भूतल से अनुक्षण,
रहने दे न, स्व-तन पर, वह ऐसे नृप का व्रण।

हम राजा हैं, राजोचित कर्तव्य गहेंगे,
हम स्वदेश के प्राण, देश के साथ रहेंगे।
प्रजा हमारी, हम उसके धन, बन जायेंगे,
दुख में सुख में, सदा उसी के कहलायेंगे।

कौन हमें अलगा सकता है इस जीवन में—
देश और जनता बसती है तन में, मन में।
क्षात्र-धर्म का मर्म 'मिटो, मिट कर जी जाओ',
पर न कभी अतिचारी-सम्मुख भाल झुकाओ।

देश और गौरव पर, मर-मर मिट-मिट जाना,
हम लोगों का रहा सदा से अमिट निशाना।
जो भूले हैं इसे ठोकरें वे खाते हैं
जग से वे प्रकीर्ण-प्रद्वेषण ले जाते हैं।

उनको अपनी दशा, क्या न किंचित् खलती है?
स्वाभिमान की लौ न हृदय में क्या जलती है?
क्या स्वदेश का रक्त नहीं, उनमें पानी है?
पानी भी हो यदि, तो बात फिर कब जानी है।

पानी वाले, प्राण, आन पर दे देते हैं।
स्वाभिमान-सम्मान न पर जाने देते हैं।"
नृप सुनते थे और मोद मन में भरते थे,
प्राण सखी पर गर्व, गर्व से वे करते थे।

और, गगन से चन्द्र देव मुखरित किरणों से—
प्राण भर रहे थे भू में मृदु उपकरणों से।
कहते थे सप्तर्षि भी कि हाँ, ध्रुव पहचानो!
जो भी ठानो ठान, पूर्ति, उसकी ध्रुव ठानो।

—७—

कई महीने बीत चुके थे,
विलासिता-घट रीत चुके थे,
बुन्देले आमोद-भरे थे,
सब के 'अपने भाग्य' फिरे थे,

पाँच रानियाँ राजमहल में—
बिहर रही थीं चहल-पहल में।
पर, उनमें वह रंग, नहीं था,
दिल्ली वाला ढंग नहीं था!

भूप हृदय में जान चुके थे,
'मन का धन' पहचान चुके थे,
गौरव उसका मान चुके थे,
दे विशेष सम्मान चुके थे।

सबसे स्नेह निभाते थे वे;
सबका आदर पाते थे वे,
सब का मन बहलाते थे वे,
सब के हो कहलाते थे वे।

पर था हृदय एक ही, उनको—
प्राप्त, अतः देते किस-किस को ?
वह सारन का वित्त हुआ था,
श्रद्धा से वह न्यस्त हुआ था।

सारन ही आराध्य उन्हें थी,
वही अकेली साध्य उन्हें थी।
वही मन्त्रणा का साधन थी,
तन थी मन थी सुन्दर धन थी।

गये उसी के पास आज जब, वे गभीर थे,
मुख-मुद्रा से किन्तु झलकता था, अधीर थे।
शहज़ादों का पत्र हाथ में खुला हुआ था,
उसका ही प्रभावसा उन पर पड़ा हुआ था।

थी उनको कोई उलझी गुत्थी सुलझाना,
और समस्या अथ से इति तक सफल बनाना।
इसी लिये सामीप्य लाभ कर निज प्यारी का,
मुददात्री, सम्मान-गर्विता, सन्नारी का—

बोले वे, "कमलाक्षि ! सुहीउद्दीन बेचारे,
याचक अपने हुये आज हैं दुख के मारे।
सुना उन्होंने पिता-रोग का वृत्त भयंकर,
त्यों ही सहित मुराद राज्य पर आये चढ़ कर।

राज्य-लाभ का लोभ, उन्हें दक्षिण से लाया,
'भारत का सम्राट बनूँ' यह हृदय समाया।
किन्तु धौलपुर निकट विकट प्रतिद्वन्दी पाकर—
क्षीणाशा वे मुगल-बन्धु-द्वय कर फैला कर—

लिखते हैं निरुपाय मुझे 'ओ लायक़-हस्ती!
ख़ुदा के लिये पार लगा दो मेरी कश्ती।'
प्रिये, इस समय; कहो किस तरह के उत्तर से—
काम निकालूँ, या कि लड़ूँ ही दिल्लीश्वर से।

इधर मुहीउद्दीन-मुराद, उधर दारा है,
ये विद्रोही, और पिता का वह प्यारा है।
भारत भर में शक्ति उसी की आज व्याप्त है,
सारा सम्बल शाहजहाँ का उसे प्राप्त है।

विपुल वरूथिन-राजकीय को, लेकर रण में—
डटा हुआ है दारा भी चम्बल-प्रांगण में।"
"फिर क्या करिये मदद" "किन्तु यह महँगा सौदा!
दारा से तलवार माँगना! कठिन मसौदा!!"

"निरा कठिन, पर नाथ! हाथ के फैलाने की—
रखनी होगी लाज, आज, इस अजमाने की।"
"शुभे! नहीं यह सोच समझ का फल-'निश्चय' है
क्या न गर्भ में छिपा 'अशिव' इसके अतिशय है?"

"खूब! जानती हूँ कि प्राण! यह पथ दुस्तर है,
कुसुम-चयन में भी तो रुद्ध कंटक-खर-तर है (!)
पर क्या उसकी भीत कुसुम-लोभी के मन को—
करती है पथ-भ्रष्ट अथच उसके साधन को?"

"कुसुम-चयन की समर-विजय से कितनी बाँकी—
ओ अल्हड़ सुकुमारि ! सलोनी समता आँकी !"
कह कर हँसे नृपाल, राज-महिषी भी विहँसी,
करती सी तादात्म्य सान्ध्य-सुषमा भी विहँसी।

पश्चिमांचल में कमनीय अरुणिमा छाई,
क्रम-क्रम मानों वही, वहाँ रानी पर आई।
बोली वह "हे प्राण ! हास्य का समय कहाँ है !
उसका चिर-वास्तव्य वहाँ—युवराज जहाँ है !!

वीर दिलेर बुन्देलों का अब मोह भी कैसा ?
रक्त बहाना होगा उनका पानी जैसा।
पर है ध्रुव विश्वास कि जब तक चम्बल धारा—
रक्खेगी अस्तित्व, सुयश भी विमल हमारा—

और हमारे वीरों की कल-कीर्ति कहानी—
अमर रहेगी, पूत बनेगा चम्बल-पानी।
एक प्रणत के सिर पर कितने शीर्ष कटें अब,
द्विधा न इसकी करें, न पीछे आप हटें अब।"

"निश्चय ही, उदात्त-भावों की मूर्त धात्री !
मान्य मन्त्रणा मुझे तुम्हारी गौरव-दात्री।
आर्त-प्रणत की टेर प्रिये, इस अवनीतल पर—
कल्य सुनेंगी बुन्देलों की असियाँ खर-तर।"

सुन कर स्वीय अभीप्सित, यह, प्रियतम के मुख से—
प्रकट प्रसन्न हो उठी रानी अन्तस्सुख से।
कल्य घुमड़ रण-मेघ, यशोजल, बरसायेगा,
रानी का मन-मोर क्यों न फिर हरसायेगा ?

❀ ❀ ❀

जागृति का आह्वान-तूर्य बज उठा प्रकृति का,
उठा जागरण में कण-कण संसृति का, क्षिति का।
सुप्त वात जग उठा, जग उठा खगकुल में रव,
अँगड़ाई ले उत्थित होने लगा शयित भव।

चंचल भावों जैसे तारे छिपे निशा में,
छाती फटने लगी तमी की पूर्व दिशा में।
जगा वहां पर लाल-लाल तमरिपु भी सहसा,
दृढ़ विचार का वर्तुल-सा कुछ विकसा-विहँसा।

नृप ने उससे प्रथम जाग कर, अपने, सत्वर—
समर-वृत्त दे किये सुसज्जित सुभट उजागर।
युद्ध-तूर्य-स्वन लगा शुद्ध शोणित गरमाने
मन में जग कर 'वीर' लगा जन में लहराने।

पी प्रत्येक वर वीर, वीर-रस-मद की हाला,
मत्त-करो सा, झूम उठा, हो कर मतवाला।
मानों अम्बुज-नाल-अनी-अरि को खंडन को—
घर्षित हो सामर्ष कर उठा भुज-शुण्डन को।

रानी ने अपने दोनों ही तनय बुला कर—
सिर सूँघे, फिर गले लगाये, स्नेह बढ़ा कर।
फिर वह देती हुई पान का नृप को बीड़ा—
बोली "प्रियतम! इन्हीं करों में है अब त्रीड़ा।

मुझे वीर की पत्नी का प्रिय! श्रेय प्राप्त हो,
गेय प्राप्त हो मुझको मेरा प्रेय प्राप्त हो।
बुन्देलों की धवल कीर्ति की विमल पताका—
है करस्थ-तव भार आज भारी लज्जा का।"

स्वीकृति-सूचक भूप-वदन पर सु-स्मित-रेखा—
खिंची, दिया मानों समझा उसका स्मय - लेखा।
बढ़े पन्थ पर नृपति, मनोरथ-रथ पर चढ़ कर,
'जय हर हर' ध्वनि गूँज उठी, नभ मे प्रतिध्वनि भर।

मधुपी रानी को जी-भर मधु आज मिला था,
उसका कलिका-सु-मन, सुमन सा आज खिला था।
अंग-अंग उसका उमंग में झूम रहा था।
नस-नस में आह्लाद अनूठा घूम रहा था।

उधर घनी घन घटा किले से काली उठ कर—
वातालोड़ित सी पहुँची चम्बल के तट पर।
धीरज खोये हुये शाहज़ादों ने ज्यों ही—
बुन्देला-वाहिनी विलोकी सम्मुख,—त्यों ही—

फूले नहीं समाये, उनका हर्ष-पयोधर—
घुमड़-घुमड़ कर लगा बरसने आशा-सीकर।
रोम रोम उनका कृतज्ञता से प्रपूर्ण था,
दारा-मद का भाण्ड उन्हें अब प्रकट-चूर्ण था।

दारा का दल बादल जैसा घुमड़ रहा था,
शस्त्र-वृष्टि का त्वेष वेग में उमड़ रहा था।
झंझावर्तन सा अनुक्षण लेता उफान था।
प्रतिद्वन्दी के लिये मृत्यु सा मूर्त-मान था।

चपला सी असि धारें, चल-चापल्य दिखा कर—
हो जाती थीं लीन वहीं अद्भुत बल खा कर।
अश्व रहे थे भूमि खोद अपनी टापों से,
पा जाना वे मुक्ति चाहते थे तापों से।

जन-रव का बाहुल्य, व्योम में व्याप रहा था,
वन्य जीव प्रत्येक, भीत से काँप रहा था।
नृप ने मानों इन्हीं दीन-दुखियों की पीड़ा—
हरने को, है रची आज यह रण की क्रीड़ा।

भूमि वहाँ की अंगुल - अंगुल उन्हें ज्ञात थी,
परिस्थिति अनुकूल वहाँ की सभी भाँति थी,
अतः उन्होंने बुन्देलों की सेना चोखी—
छिपा आड़ में, चली युद्ध की चाल अनोखी।

शहज़ादों की सैन्य साथ में लिये बढ़े वे,
पश्चिमोन्मुख, नदी किनारे सपदि बढ़े थे।
दारा ने देखा कि और ही किसी घाट से—
शत्रु उतरने चला दूसरी किसी वाट से।

अतः, मोरचे अपने भी तब शीघ्र हटा कर—
मार्ग रोध के लिये चल पड़ा वह पीछा कर।
यही स्वर्ण अवसर बुन्देले चाह रहे थे,
छिपे हुये इसको ही वे अवगाह रहे थे।

निकल पड़े वे और नदी में अपने घोड़े—
बिना अपेक्षा किये किसी की, निर्भय छोड़े।
उधर ओरछाधिप ने भी उद्भ्रान्त बना कर—
शहज़ादे को खूब छकाया खेल खिला कर।

और आ मिले चकमा दे कर अपने दल में,
विकट मोरचा विफल बना डाला यों, छल में।
केवल घंटे सात लगे इस कठिन चाल में।
किन्तु ठगे वे गये बहुत इस चतुर चाल में।

उनके सच्चे शूर सात - सौ भू-लुण्ठित थे,
खरे बुन्देले वीर प्राणहृत-क्षत-कुण्ठित थे।
एक दीर्घ निःश्वास भूप का हृदय चीर कर—
निकल पड़ी, उस काल, उन्हें सहसा अधीर कर।

वे तड़प उठे, उन्मत्त क्रोध—
उनका फूत्कार उठा क्षण में,
जन - जन में भैरव-रोष जगा,
जग अनल उठा पल में रण में।

भक-भभक उठी रण की ज्वाला,
चट चेत उठी रण की चंडी,
झट 'मार-मार' के कोलाहल से
गूँज उठी वह वन-खंडी।

बुन्देले खर - असियाँ निकाल—
करवाल सूँत, ले कर भाले—
'जय जय हर हर, जय महादेव'
कह, टूट पड़े वे मतवाले।

प्रतिशोध हृदय का धधक उठा,
उनको बदले की आग जगी,
शोणित सरिता से भी न बुझे—
ऐसी भीषण दावागि जगी।

जिस ओर भूमि झुक गये,
उधर मैदान साफ हो जाता था,
'भागो बुन्देले आ पहुँचे;
कुहराम - रोर छा जाता था।

घुस पड़े शत्रु के दल में वे,
लोहित भालों को तान-तान,
जिस को पाया झट छेद दिया,
ले लिये सहज - से खींच प्राण।

'सम्हलो' कहकर जैसे जोड़ा,
भाले ने जाकर छेद लिया,
'जीवन कितना क्षण भंगुर है!'
समझा उसको सब भेद दिया।

वह फिर न साँस को तोल सका;
बस मौन विदा ले जाता था,
'भागो बुन्देले आ पहुँचे'
कुहराम-रोर छा जाता था।

विष बुझी कटारों से रिपु को
वे फाड़ डालते थे क्षण में,
निर्मम निष्ठुर संहार क्रूर—
वे आज कर रहे थे रण में।

असियाँ उनकी लप लपा उठीं,
सिर पर शम्पा सी टूट पड़ीं,
रिपु-शोणित पी कर हटीं;
और दूसरे के लिये छूट पड़ीं।

हहकार उठीं प्रलयंकर सीं;
दल काई सा फट जाता था,
'भागो बुन्देले आ पहुँचे'
कुहराम-रोर छा जाता था।

कर, क़लम किसी का किया,
किसी का बाहु, मूल से उड़ा दिया,
लग गईं किसी के गले झपट;
सिर धड़ से उसका छुड़ा दिया।

जब गिरीं किसी के सिर पर तो—
तन दो टुकड़ों में बाँट दिया,
तिरछीं हो कर कौतूहल से—
कटि-तट-प्रदेश ही काट दिया।

थीं साँपिन सीं फूत्कार रहीं
भय से अराति थर्राता था
'भागो बुन्देले आ पहुँचे'
कुहराम-रोर छा जाता था।

थीं प्यासें नहीं बुझीं उनकी,
रिपु के लोहू को चाट-चाट,
अम्बार उन्होंने लगा दिये—
बैरी के दल को काट-काट।

वे निकलीं, घुसीं, घुसीं, निकलीं—
मुगलों की छाती चीर - चीर,
वे हँसीं व्योम में, छपक पड़ीं;
त्वर ढेर कर दिये शूर-वीर।

जिस ओर लपक बढ़ जाती थीं;
उस ओर विजन हो जाता था,
'भागो बुन्देले आ पहुँचे'
कुहराम-रोर छा जाता था।

ओरछा नृपति—वह वीर सुभट;
दाँतों में हय की बाग थाम—
दोनों हाथों में महाकाल—
करवाल-कालिका - मूठ थाम—

उन्मत्त बना कर्तन करता—
घुस गया शत्रु के संगर में,
सब काट-काट कर पाट दिये;
जो पड़े सामने संगर में।

यह गया भूप; वह गया भूप;
ये गिरे वीर, वे मरे शूर,
थी चेत रही चंडी उमकी,
रिपु लगे भागने दूर-दूर।

जौहर की भरी जवानी थी;
खुल खेली आज रणालय में,
लोथों पर लोथ जमा करदीं—
उसने लोहित वरुणालय में।

❀ ❀ ❀

कुछ बुन्देलों का विकट काट;
कुछ भूपति का उन्मत्त रोष,
डट सकी न दारा की सेना—
सुन भीषण 'हर-हर' महा घोष।

तब देख पलायन सेना का,
दारा ने अपना करी बढ़ा—
ललकार पुकारा वीरों को;
उनमें समरोचित चोप चढ़ा।

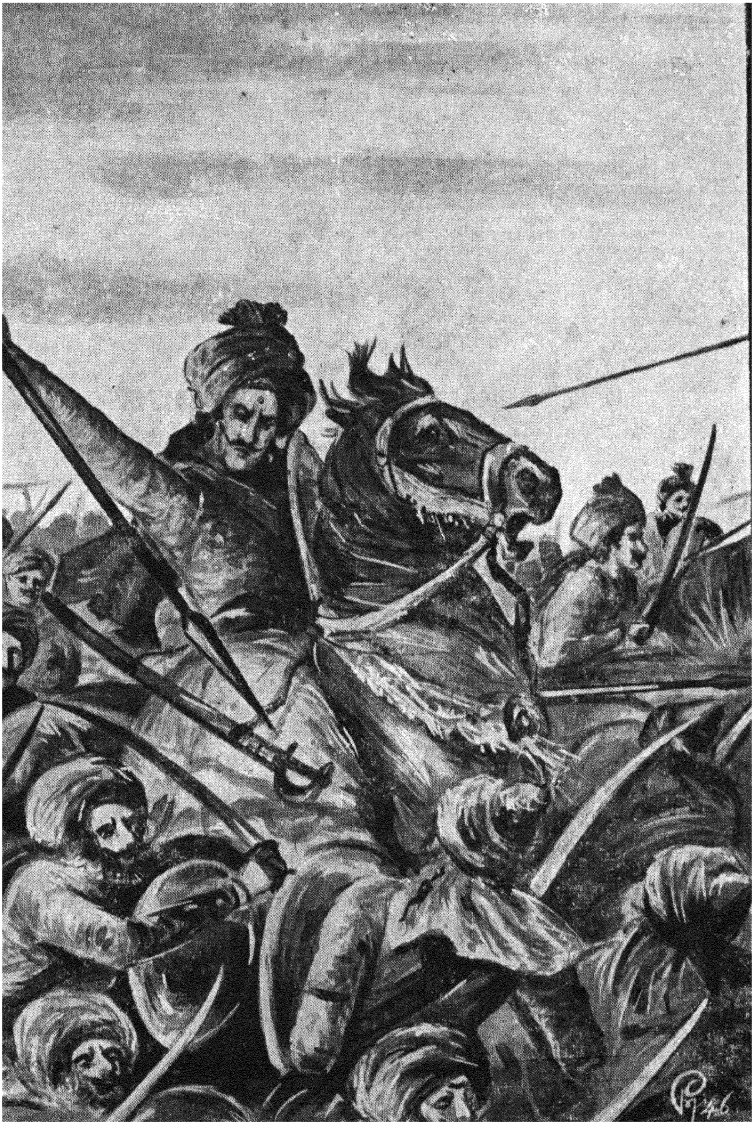

'जौहर की भरी जवानी थी, खुल खेली आज रणालय में।'

"वीरो ! ग़नीम का आज अरे !
हौसला बढ़ा डाला तुमने ।
अपनी बहादुरी में कैसा—
यह दाग़ लगा डाला तुमने ।

मर मिटो, न पीछे, हटो बढ़ो !
बढ़ कर यह तुग़यानी रोको,
आबरू आगरा की रख लो;
दुश्मन की मनमानी रोको ।

कह सके न कोई देहली को—
बुन्देल खंड से हार गई,
कह सके न कोई, शहंशाह की—
फौज डाल तलवार गई ।

लौटो लौटो मेरे शेरो !
है तेग़ तबर की आन तुम्हें,
जी लो-जी लो, मर कर जी लो,
जीने पर रहे गुमान तुम्हें ।

लो, सुर्ख़ रुई हासिल करलो
नादिर मौक़ा यह बे नक़ाब !
गाज़ी बन कर जगमगा उठो !
या फिर शहीद बा आबताव !!

है आज तुम्हारा बादशाह—
बीमार पड़ा, बेज़ार पड़ा,
वह पड़ा तुम्हारे लिये, लिये—
अपने मन में अरमान बड़ा ।

बे वफ़ा न होना उस बूढ़े से—
दग़ा न कर देना वीरो!
बढ़ चलो, बढ़ चलो, दुश्मन के—
हौसले बढ़े चीरो वीरो!"

उत्साह बढ़ा कर, वीरों को—
दारा ने रण में रेल दिया,
उनका, प्राणों का मोह भगा—
जलती ज्वाला में ठेल दिया।

फिर हू हू कर, तप उठा रणालय;
मार काट का भूत जगा,
भिड़ गये घहर कर दोनों घन;
रण का भैरव अवधूत जगा।

झुरमुट झंझा झकझोर जगा;
बांबी के काले नाग जगे,
नागिनें म्यान से निकल जगीं;
भाले तन, तेवर तान जगे।

रण जाग उठा; गण जाग उठे;
प्रण जाग उठे जन-जन-तन में,
मर मिटने को प्रण जाग उठे—
अनुराग भरे क्षण में मन में।

सोया अन्धड़ फिर जाग उठा;
घनघोर घनाघन जाग उठा,
बिजलियाँ व्योम में जाग उठीं;
रव-रोर खनाखन जाग उठा।

कुन्तों के जौहर जाग उठे;
खर विशिख-शिखायें जाग उठीं,
रण में शूरों की तलवारें—
दिन में उल्का-सीं जाग उठीं।

वे ज्योंहां बांवी से निकलीं—
दक्षिण भुज में भर रोष गया,
तम तमा उठे गरबीले मन—
मन में, मन-भर, भर जोश गया।

तब प्राण बचाने को ढालों ने—
अपने सीने खोल दिये,
उन्मत्त रोष ने अन्धे हो कर—
वार उन्हीं पर तोल दिये।

फट गईं, छातियाँ दरक गईं—
कब रुकती बाढ़ दुधारों की,
किस के सीने हैं, चोट सहें—
जो, तलवारों के वारों की।

करवालें ढालें फाड़-फाड़—
लेती थीं तन से प्राण चाट,
बढ़ती थीं फिर छप-छप आगे—
वे मृत्यु-विवर को पाट-पाट।

बरछे, कटारियाँ- कुन्त-फाल,
कोदंड - चण्ड, उन्मत्त - वाण,
कर खंड-खंड उद्दंड भटों के—
खांच रहे थे खड्ग प्राण।

वे ज्यों ही निष्ठुर जीभ निकाले—
कालकूट से टूट पड़े;
उत्तान गिरे कुछ मुंह के बल;
जिन-जिन के सिर पर टूट पड़े।

भालों के फाल पड़े कस कर;
घुस गये वक्ष को चीर पार,
चीत्कार एक; फिर करुण शान्ति;
गिर पड़े वाजि से हय-सवार।

बल प्रबल-भुजाओं का ले कर;
घुस गये करी का कुम्भ फाड़,
मद पान कर लिया निकल पड़े;
दिग्गज गजराजों को पछाड़।

बिछ गईं लाश पर लाशें तब;
दोनों पक्षों का काट हुआ,
मेदिनी रक्त से डूब गई;
ऐसा संहार विराट हुआ।

उन करवालों का मुक्त कोप!
उन वीरों का बेधड़क रोष।
भू पर लाशों की क्षीण शान्ति!
नभ पर शूरों का भीम-घोष!

वीरों में रोष जगाये था;
मरने का तेह चढ़ाये था (!)
मर, अमर बनें, यह लोभ-लाभ—
धर-धर कर उन्हें बढ़ाये था।

वे रौंद-रौंद कर लाशों को—
बढ़ते जाते थे वक्ष तान,
आहत भट उनके पदाघात से—
त्याग रहे थे क्षीण-प्राण।

मरने वालों की पूछ न थी;
मरने पर तुले हुये गण थे,
जन-जन के तन में अगणित व्रण;
व्रण में उनके जीवित प्रण थे।

वे अपनी एक इकाई दे कर—
सुयश मोल ले जाते थे।
अपने प्राणों का दाम चुका;
वे स्वयं तोल ले जाते थे।

सिर होड़ लगाये कटने की;
तलवारें उन्हें काटने की,
दोनों में ठान ठनी गहरी;
कटने की और काटने की।

सिर से सिरोहियाँ खेल रहीं—
थीं, एक-एक को डाँट-डाँट—
भू-लुण्ठित कर-कर बढ़ती थीं—
व्रण के प्रसाद को बाँट-बाँट।

घावों में घाव समाते थे—
जब वीर, वीर पर तचते थे,
मरते मरते भी; एक; एक पर—
सद्य-शस्त्र-व्रण रचते थे।

व्रण खा-खा वीर बबकते थे;
टेसू से फूले फिरते थे,
उनके सिर पर से छहर-हहर—
शोणित के निर्झर झरते थे।

मुख खोल-खोल कर खोपड़ियाँ—
गह लेतीं दाढ़ सिरोही की,
त्वर वमन रक्त फिर करतीं थीं—
जब खिंचती बाढ़ सिरोही की।

सिर के सिरोहियों ने टुकड़े—
लोहित सरिता में बहा दिये,
कटि-बाहु-जहु सब, काट छाँट—
कर, शूर हजारों ढहा दिये।

पेश्यस्थि - मेद - मज्जा से वे,
खिलवाड़ भयंकर करती थीं,
मानव-शोणित में किलक-कुलक—
वे तरती और उछरती थीं।

वे तलवारें थीं या प्रकोप (!)
जिस पर वे छहर हहरती थीं,
कच्चा ही उसे चबा जातीं;
भुट्टे-सा खोस कतरती थीं।

हय-मुंड कटे, गय-शुंड कटे,
कल्ले कट गये बछेड़ों के,
गज भहर गिरे; कट गये कुंभ;
उनके अति प्रबल थपेड़ों से।

त्रिकुटी पर भृकुटी चढ़ा, सरुष—
हुँकार, उन्हें ज्यों ही झारा,
फूत्कार उठीं वे, और लक्ष्य का—
छुड़ा दिया संसृत-कारा।

यों रण में जौहर जहर, घुला—
था, ज्वार सिन्धु में लहर उठा,
शूरों की अँगड़ाई में था—
कुछ एक ग़ज़ब का क़हर उठा।

बुबकार उठी चम्बल घाटी;
चीत्कार दिशायें उठीं, आह!
पानी की प्यासी, पीर-भरी,
छटपटा रही थी नर-कराह।

काली का और कपाली का—
खुल गया सत्र समरांगण में,
भूतों को और पिशाचों को—
मन-माना भोज मिला रण में।

शंकर के गण थे आज मगन,
वे मत्त नाचते गाते थे,
भेजा - मज्जा - आँतें निकाल;
भर-पेट नोचते खाते थे।

चम्बल की धारा रक्तिम थी,
ऐसा भीषण संग्राम ठना,
भारत के सिंहासन पर था—
दो पक्षों का यह ठान ठना।

था भाग्य-तुला पर कभी, विजय—
पलड़ा, दारा झुक जाता,
तो कभी मुहीउद्दीन-पक्ष में—
आ कर नीचे रुक जाता।

विश्वास नहीं होता था किसका—
खेत रहे गा आज यहाँ,
विश्वास नहीं होता था, किसका—
भाग्य बहेगा आज यहाँ।

अपराह्न ढल चुका था, पश्चिम में—
सूर्य ढल रहे थे क्रम-क्रम।
पर युद्ध-भावना नहीं ढली थी,
नहीं हो रही थी वह कम।

दिवसावसान आसन्न देख;
वे दोनों फिर गुरु रोष धार—
भिड़ गये, जूझने लगे, भयंकर—
मार-मार की, कर पुकार।

फिर जगा भभूका-सा भैरव!
फिर एक बार रण हूक उठा,!
फिर ज्येष्ठ मास का ज्वालानल!
फिर हा-हा कर वह लूक उठा!

फिर शस्त्रों पर ढलतीं रवि-किरणें—
आग लगा कर वह चमक उठीं,
फिर से खर-धारें जहरीलीं—
नभ में दामिन सीं दमक उठीं।

फिर कालकूट की झारों का—
आवर्त रणस्थल बना घोर।
बच, पार उतरने के दोनों के—
यत्न चले थे उन्हें बोर।

कुछ भाग्य-योग, कुछ समय-दशा ?
दारा का पक्ष प्रचंड पड़ा।
पिल पड़ा समूचे संबल से
संगर में वह बरबण्ड बड़ा।

आँधी-सा सहसा हहर पड़ा;
प्राणों का दाँव लगा कर वह,
सोया सा विप्लव फूट पड़ा,
अपना पुरुषार्थ जगा कर वह !

टिक सके न बुन्देले तब तो;
उनका पौरुष-तरु उखड़ गया,
यों पलक मारते जय-आशा—
उद्यान, भूप का उजड़ गया !

देखता मुहीउद्दीन रहा—
अपने दल की करतूत खड़ा,
दारा के शेरों की दहाड़—
सुनता था वह अनमना खड़ा।

उसका विजयार्क, अर्क जैसा—
देखते-देखते डूब चला;
यश और परिश्रम भूपति का भी—
साथ उसी के डूब चला।

जय-भेरि बजा दी दारा ने।
त्यों ही विस्मय व्यापार हुआ!
पश्चिमी क्षितिज से एक भयंकर—
कोलाहल साकार हुआ।

यह एक उद्‌ग्र सिन्धु-जैसा—
था रण-वीरों का व्यूह बड़ा,
जिसने दारा के विजय-हर्ष में
किया तुमुल-प्रत्यूह खड़ा।

था उसका झंझावर्तन ऐसा—
विकट और निर्द्वन्द हुआ,
झक झोर हिला डाला, दारा का—
विजय-गर्व सब मन्द हुआ।

जिस तरह देख कर शार्दूल;
मृग-मृगछौने कातर अधीर—
भग कर, छिप कर, वे कैसे भी—
रक्षित करते अपना शरीर।

दारा का दल भी उसी भाँति;
उस तम में भाग गया छिप कर,
दारा का अरे, भाग्य भी तो—
उस तम में भाग गया छिपकर।

उसकी जय पर हो गया—
मुहीउद्दीन - पक्ष - विजयाधिकार,
जय-तूर्य-तुमुल नृप का सहर्ष—
बज उठा, विजय-रव को प्रसार।

जय की; हो गई पराजय, और
पराजय; जय में बदल गई,
आश्चर्य अहो ! शहजादों को—
यह 'मदद ग़ैब की' हुई नई !

"अल्लाह ! शुक्र, तेरे सदक़े !
रब ! तेरे सिजदे बार-बार,
या नूह ! फ़िरश्ते भेज ग़र्क़
कश्ती को तूने किया पार ।

सब मेह्र तेरी, सब करम तेरा,
यह ग़ैब की सब इम्दाद तेरी,
मौला मेरे ! तुझको सलाम !!
सिजदों में तेरे जबीं मेरी ।"

अल्लाह का बन्दा नेक (!), जहाँ—
शुक्रिया ख़ुदा का करता था,
नृप वहाँ, इस विजय-विस्मय पर—
कौतूहल से मन भरता था !!

पर, कौन फ़िरिश्ते (!) आये ये ?
किसने नेतृत्व किया उनका ?
कुछ पता न चलता था, किसने—
यह पाँसा पलट दिया रण का

विस्मय-मय गूढ़ पहेली थी;
यह जय कौतुक की गुत्थी थी,
सब के सम्मुख था 'प्रश्न चिन्ह'
पर वह न किसी से खुलती थी ।

यह सब; अनियोजित—दवयोग—
था, स्वायोजित-सा आज मिला,
यश मिला नृपति को अनायास;
शाहज़ादों को साम्राज्य मिला।

पर, 'इस अनियोजित–आकस्मिक-का
तर्क न मन को भाता था,
ये कौन ? कहाँ के ? आये ही क्यों ?
स्पष्ट नहीं हो पाता था।

सहसा दृष्टियाँ फिरीं सबकी,
सब ने आँखों-आँखों देखा,
है चला आ रहा वाजि दपेटे;
एक अनोखा अनरेखा।

था वीर, अंग से गठा हुआ वह—
थे शाण चढ़े अवयव तन के,
वीरों के मन में घुस जाते थे—
उस के भाव भरे मन के।

था दृप्त-तेज-मंडित, मनोज्ञ वह
रूप देह में उफन रहा!
उसकी गर्वीली ठवनि अहा!
अपने में अनुपम फबन महा!!

आ, उसने नृप का अभिवन्दन कर—
कर्षित ध्यान किया सबका,
अनुकूल समादृत हो सब-पक्ष में—
समुचित मान लिया सबका।

पुनि बोला नृप से, "आर्य, बधाई !
जय-लक्ष्मी का वरण करें;
दुर्जय दारा दल गया कृती, अब
उपसंहाराचरण करें ।"

यह पिक-कुहकन ? हाँ, वह ! जिससे-
श्रवण-पेशियाँ नृप की परिचित !
सुन कर भी अतृप्त रहती हैं,
रहा चाहतीं जिसमें मज्जित ।

तब; जब इस कोमल वीणा से—
यह जय-तथ्योद्भास हुआ—
आश्चर्य-हर्ष-गद्गद् मुद्रा में—
नृप का शील प्रकाश हुआ—

"जिसने तुम सी लक्ष्मी पाई,
मिला क्या न कुछ भव का उसको,
यह जय लक्ष्मी, किन्तु सपत्नी (!)
स्वयं बनाया तुमने इसको ।

तुम हो मूर्त-विजय-श्री मुझको—
प्राप्य, आप मैं धन्य हो गया !
पा कर तुमको दिल्लीश्वर का
चम्पतराय शरण्य हो गया !!"

अपनी प्रिय के लिये नृपति का,
गर्व भरा आभार प्रकाशन—
और नवोदित का परिचय पा,
मुग्ध हो उठे समुपस्थित जन ।

देखा तब सबने नारी में,
दुर्गा का अतिशय श्लेष-रूप
देखा सबने कमनीय सौम्य में—
अद्भुत अति - साहस अनूप ।

देखा सब ने उस नारी में—
नर दुर्लभ 'निर्वाहन' अपार,
इस समय बनी थी नारी ही—
इस विजय-सौधका मुख्य द्वार ।

यह सारन्धा थी, जिसने अदम्य साहस से—
आज भूप की रक्षा कर ली प्राप्त अयश से ।
बैरी क्षण भर सह न सका उसके प्रहार को ।
पीठ दे गया और ले गया विवश हार को ।

अब रण में रिपु के पक्ष के;
मरे - अधमरे वीर ही—
थे पड़े रह गये भूमि पर—
मूर्च्छित - मृतक - शरीर ही ।

युद्ध-भूमि का दृश्य, इस समय था करुणामय
मृत्यु-अङ्क में सुभट सोरहे थे होकर क्षय ।
कुछ ही पहले जहाँ सजे वीरों के दल थे,
फड़क रही थीं लाशें अब घायल बेकल थे ।

हा, नीच स्वार्थ में डूब कर—
इस मानव ने आदि से—
है खून भाइयों का किया—
मार - काट - हत्यादि से !

विजयी दल अब लूट-मार करने पर टूटा,
जिसे जो मिला, प्राप्य, वहाँ वह उसने लूटा।
पहले थे जो मर्द, जहाँ लड़ते मर्दों से;
अब थे वे लड़ रहे वहाँ नीरव मुर्दों से।

वीरत्व-पराक्रम की जगह,
अधम-कृत्य था मढ़ रहा,
हा, था मनुष्य पशु प्रथम—
अब, पशु से भी था बढ़ रहा।

इसी लूट में शाही दल के सेनापति की,
व्रण-पूर्ण मृत-प्राय लाश भी दिखलाई दी,
उसका घोड़ा उसकी रक्षा में सतर्क था,
वली बहादुर खाँ को कर सकता न तर्क था।

वह अपनी प्यारी पुच्छ से
व्यजन-कार्य था ले रहा,
उस मूर्च्छित के उपचार में—
सेवायें था दे रहा।

राजा चम्पतराय देख यह, उस तुरंग पर—
मुग्ध हो गये जी से उसके अंग अंग पर।
केहरि का सा वक्ष, कमर चीते की सी थी,
सभी भाँति निर्दोष अंग की भव्यगठन थी।

सुन्दर एराकी जाति का—
अश्व बड़ा ही विज्ञ था,
वह स्वामि-भक्त प्रेमी-हृदय,
भावुक-विशद, बहुज्ञ था।

नृप ने बोधित किया सैन्य को उच्च-स्वर से—
"सावधान ! इस हय पर कोई वार न कर दे !
जीवित ही ले पकड़ वरन् धीरज दे कर के,
पावे यह आराम यहाँ प्रेमी जी भर के।

यह हय मेरे अस्तबल की—
शोभा विपुल बढ़ाये गा,
इसको जीवित जो लाये गा;
पुष्कल धन वह पाये गा।"

सुन कर हय पर सुभट चतुर्दिक से तब धाये,
बन्दी करने के प्रयत्न सबने अजमाये।
साहस पर होता न किसी को था इतना भी,
पास जा सके जो करके पुरुषार्थ घना भी !

था कोई तो चुमकारता;
कोई उसे दुलारता,
फन्दा से भी फाँसने का—
यत्न रहा झख मारता।

सारन्धा को जब अवगत यह हुआ वृत्त सब,
वह बाहर आ गई शिविर से निकल शीघ्र तब !
चली गई फिर अश्व निकट परिचित हो जैसे,
किंचित भी तो हुई न वह आतंकित भय से।

उसकी प्रिय आखों में भरा—
स्वच्छ प्रेम का भाव था,
छल का प्रपंच का सर्वथा—
उनमें निपट अभाव था।

उसको तब अवलोक हो गया शान्त तुरग वर,
झुका दिया सिर उसके सम्मुख उसने सत्वर।
रानी ने सस्नेह पीठ उसको सुहलाई,
और हृदय की वत्स-स्नेह-धारा छलकाई।

वह रास पकड़ कर अश्व की—
शिविर के लिये चल पड़ी,
थे सभी देखते रह गये—
यह विचित्र घटना बड़ी।

घोड़ा यों चुपचाप हो लिया उसका अनुगत,
मानों सेवक हो उसका वर्षों का अवगत।
किन्तु भला होता, यदि पहला कटु स्वभाव ही;
सारन्धा से भी रखता हय; शुष्क भाव ही;

आगे चल कर, फिर क्यों कि यह—
अश्व राजकुल के लिये—
है छद्म-काँचन मृग हुआ,
विकट परीक्षा के लिए।

इस सांसारिक रण-क्षेत्र में उस दल-पति को—
मिलती है जय, जो कि समझता अवसर गति को,
स्वानुकूल अवसर पर वह जितना बढ़ जाता,
विपद्-समय पीछे सहर्ष उतना हट जाता।

उस वीर पुरुष से राष्ट्र का—
होता नव-निर्माण है,
करता रहता म्रियमाण वह;
सदा शत्रु-अभिमान है।

किन्तु क्वचित सैनिक, ऐसे भी होते रण में,
बढ़कर हटना नहीं जानते जो प्रांगण में।
संकट में भी नहीं कभी पीछे वे हटते,
विजय मिले वा नहीं, आन पर हैं मर मिटते।

यद्यपि उन में से क्वचित ही—
करता जय-श्री प्राप्त है,
पर करती उनकी हार भी—
शाश्वत-गौरव व्याप्त है।

सारन्धा भी इनमें से ही एक थी,
खोकर भी सर्वस्व निभाती टेक थी,

अस्तु; रहा मैदान ओरछा-भूप का,
और सुयश सारन्धा-शक्ति-स्वरूप का।

सुख-स्वप्न—
दूर, दारा का सारा आज था,
पा गया,
मुहीउद्दीन बाप का राज्य था।

-८-

शाहज़ादा मुहीउद्दीन, विजय पाके ज्यों ही—
आगरा की ओर को, सवेग गति से चला,
अनुग बना था भाग्य, पूर्ण भक्त सा अनन्य,
अभिलाषा-द्रुम उसका था, ख़ूब ही फला।
ज्यों ही वह आगरा के भीतर, सगर्व घुसा—
अरि का मदाद्रि, पानी-पानी होके, था गला।
और जय-देवि ने, करस्थ राज-दण्ड कर,
सिर पै सहर्ष शुभ्र चामर को था झला।

शाहजहाँ के शासन का लो, अन्त हुआ!
बन्दी पिता पुत्र द्वारा, हा हन्त! हुआ!!
हा, आज नहीं उसका घर भी; अपना था,
पहले का वैभव अब उसका सपना था!

वह भर कर उच्छोच्छ्वास, काल की गति को—
रोता निरीह निरुपाय नियति की कृति को।
'यह वर्तमान (!) कैसा भविष्य वह होगा?
वह; हाय, भूत को मेरे हँसता होगा!'

तब भूत; और फिर दूर-भूत को देखा (!)
खिंच उठी वदन पर उसके व्रीड़ा रेखा।
'हा, मैं भी तो था हुआ पिता का रोधी (!)
फिर क्यों न आज रे! होऊँ सुत से बोधी?'

सोचता, सोच कर कुल की परम्परा को—
कोसता जर्जरित गलित शरीर-जरा को।
दिन काले उसके (!) रातें उसे रुलातीं,
मन की पीड़ायें हाय उसे कलपातीं।

वह वृद्ध, किले के वातायन से हो कर—
टपकाता यमुना में अविरल दृग-सीकर।
'अल्लाह! आज ये दिन भी मेरे अपने (!)
इतिहास के करेंगे हा, कलुषित पन्ने।'

वह ताज महल को देख प्रणय की यादें—
मुमताज़ महल के संग-सुखों की यादें—
कर हरी, आज को दीन-दशा पर रोता,
धारण दृगम्बु कर, श्वेत-श्मश्रु था धोता।

था बूढ़ा बाप आज यों बन्दी हो कर—
जीवन के काले दिवस काटता रो कर,
और तरुण मुहीउद्दीन बाप का द्रोही—
था समझ रहा सब कुछ सिंहासन को ही।

वह था राजनीति-ज्ञानी,
भेद-नीति का विज्ञानी,
जन-भावों का पंडित था,
अवसर - कला - विमंडित था।

उसने वह दरबार सभी—
और प्रमुख सरदार सभी—
जो शाही अधिकारी थे—
महत् महत्ता-धारी थे—

थे सब अपनी ओर किये,
सब के क्षमापराध किये,
सब को राजपदादि दिये,
सब ही पुरस्कृतादि किये।

चम्पतराय महामति को—
लख कर उनकी गुरु-कृति को—
उन्नत पद का मान दिया,
बहुत-बहुत सम्मान किया।

राज्य ओरछा से अथ थी—
काशी पर जिसकी इति थी—
जो यमुना तक विस्तृत थी—
सुख-समृद्धि से वर्द्धित थी—

आलमगीर मोद भर के—
कृतज्ञता ज्ञापन कर के—
वह जागीर भूप को दी,
उनकी चरम प्रतिष्ठा की।

जिनके हाथों त्राण मिली—
शत्रु-राज्य की नींव हिली—
आशाओं को बेल पली—
मंजु-मनोरथ-कली खिली—

जिनकी शौर्य-शक्ति द्वारा—
दुर्जय प्रतिद्वन्दी दारा—
अपनी शक्ति खपा हारा,
गया सदा को बेचारा!

जिनके हाथों सिंहासन—
भारत का स्वेच्छित शासन—
पूर्व-शक्ति का निष्कासन—
मिला स्व-बल का विज्ञापन।

मिला तख्त तोऊस अहा!
'मिलने को क्या अहो रहा?'
फिर सम्राट भला कैसे—
आज विमन होता उनसे?

उसने उनका गर्व भरा—
एक अनूठा पर्व भरा—
सद् भावों से मान किया,
बड़ा-बड़ा अभिमान किया।

फिर से सुख-स्वप्नों ने अपना -
माया जाल बिछाया,
फिर से बुन्देला राजा पर—
मोहन-मन्त्र चलाया।

बना पुनः दिल्ली शासन का—
क्रीत, अहो; वह मानी,
ऐश्वर्यों की चकाचौंध में—
भटक गया अभिमानी ।

और पुनः सारन्धा पर—
परवश्य - दैन्यतम - दुख ने—
कुटिल आक्रमण किया,
लगा उसका स्वतन्त्र मन दुखने ।

स्वाभिमानिनी, मानस-सर में—
मुक्त विचरने वाली—
पड़ी भाग्यवश पराधीनता—
मरु-थल बीच मराली ।

घुलने लगी शोक में उसकी;
कुसुम - सुनहली - काया,
था विषाद-पट में अपने को,
उसने सलज छिपाया ।

पानी बन-बन कर उसके—
अरमान, नयन के पथ से,—
निकल-निकल स्वायत्व—भरम—
खोते थे अविरल गति से ।

इस पीड़ा का उपादान था—
उसने स्वयं जुटाया !
अपने भूत-कर्म का उसने;
वर्तमान यह पाया !!

नियति ! अहे, यह कैसी है अप्रिय-सी लीला ?
नहीं टपकती क्या इससे तव वृत्ति-अशीला ?
क्या यों ही वह स्मय-भावों की नवल वल्लरी—
जायेगी दुर्दैव ! सूख कमनीय सुन्दरी ?

काल-चक्र ! क्या तेरी भी दुर्दान्त कुल्हाड़ी—
गौरव-विटपोच्छिन्न-हेतु रहती है आड़ी ?
निष्ठुर ! क्या तू आत्म-भावना का द्रोही है ?
करता क्या तू प्यार अधोमुखि गति को ही है ?

तब क्या रानी की निर्मल स्वातन्त्र्य-भावना—
मरणोन्मुखी बनेगी उसको विशद कामना ?
क्या निश्चय ही नृप के इस अग्राह्य पतन को—
कर लेगी स्वीकार हृदय से रानी क्षण को ?

रे भविष्य !
यह ग्रन्थि; अरे, तू ही सुलझादे,
उत्सुक वाचक—वृन्दों को—
सब—कुछ समझादे ।

●

—९—

आ कर जाते, फिर आते हैं,
यों तो ऊर्ध्व-पतन-चलचित्र,
किन्तु बहुत कम मिलते हैं,
मर्यादा पर मिटने के चित्र!

वलीबहादुर खान, वाक्-पटु—
और कुशल - मृदु - भाषी था,
स्वेष्टि-समार्जन में वह द्रुत-धी—
अतिशय - प्रबल - प्रयासी था।

कठिन व्रणों का शोधन पाकर—
उसने वाक्-कुशलता से—
अपने को विश्वस्त कर लिया;
शाह - समीप सफलता से।

था औरंग ज़ेब गुण - ग्राही;
उसने इस सेनापति की—
सम्मानित पद दे कर, सच्चे—
मन से समुचित इज़्ज़त की।

राज सभा में 'सभी, पुराने—
इस सेनापति का सम्मान—
करते थे, अक्षुण्ण था उसका—
पूर्व तुल्य अब भी अभिमान।

पर फिर भी खाँ साहब के—
मन में, था भारी एक विषाद,
अश्व हाथ से छिन जाने का—
गया न था उनका अवसाद।

सब कुछ पा कर भी, वे रहते—
खोये - खोये से वसुयाम;
घोड़े के बिछोह में अनुदिन—
हुये जा रहे थे वे क्षाम।

आज उन्होंने ने देखा फिर से—
अपने उस हय का मृदु वेष,
पुलक उठा मन उस प्रेमी पर,
उमग उठा अनुराग विशेष।

छत्रशाल प्रातस्समीर के—
सेवनार्थ, उस हय पर आज—
हो सवार निकला था, सेना—
पति के सौध-पार्श्व से आज।

'यही-यही, हाँ यही सौध है—
मेरा पूर्व निवास-स्थान'
हँस उठा हय, खाँ साहब पर—
प्रकट कर उठा निज सम्मान।

वलीबहादुर भला, चूकने—
वाला था कब यह अवसर?
कहा सेवकों से "ले लो इस—
घोड़े को फ़ौरन जा कर।"

राज कुमार अकेला कर ही—
क्या सकता था उन सब का?
पावों चल कर आया, मां से—
कहा वृत्त सब कुछ पथ का।

सुन कर सारन्धा - मुख - मंडल,
हुआ आग का अंगारा!
परुष अरन्तुद शब्दों में -
उसने कुमार को फटकारा।

"शोक नहीं इसका, कि हाथ से--
अश्व गया है मन-चीता,
शोक मुझे है यह कि—
उसे खो कर भी तू लौटा जीता!

मुझ से पैदा हो कर भी, क्या—
तू ऐसा कर सकता है!
अपने गौरव पर भी क्या तू—
हाय नहीं मर सकता है?

तेरे तन में बुन्देला का,
रक्त नहीं, क्या पानी है ?
ठुकरा कर मर्यादा तूने;
हाय देह पहचानी है !

गौरव दे कर, तन लेकर यह—
अरे यहाँ भग आया है !
कैसे तुझ से बना, गँवाकर—
घोड़ा पैदल आया है ?

घोड़ा गया, चला जाता, पर—
तुझे दिखा देना था आज,
एक बुन्देला-बालक, कितना—
सज सकता है तांडव साज ?

कितना भी था वली बहादुर !
तू तो मेरा बेटा था !!
प्रकट स्वयं को कर सकने में—
क्या तू उससे हेटा था ?

विषधर का बच्चा कब अपना—
गरल छिपाये रखता है ?
छेड़े जाने पर न चूकता,
मरता है, या डसता है !

पदाघात से क्षुब्ध धूलि-कण
सिर के ऊपर आता है,
बन जाता किरकिरी आँख की !
अपना बोध कराता है !!

कब सिंहनी-सुवन सिन्धुर के--
प्रथुल गात से हुआ सशंक ?
कब प्रकाश की रश्मि मानती—
घनीभूत तम का आतंक ?

घोड़ा जाने की न बात, है—
बात, बात के जाने की (!)
कर आया तू बात, बात पर,
सदा बात पछताने की !!"

"क्षमा ! क्षमा ! माँ, अभी जा रहा,"
"नहीं, स्वयं मैं जाती हूँ,
वली बहादुर खाँ को, उसकी—
त्रुटि का बोध कराती हूँ !

मेरा घोड़ा ! उसका वाहन—
बने ! और मैं देखूँ ओह !
अभी - अभी मैं खाँ साहब का—
दूर करूँगी सब व्यामोह !"

इतना कह कर रानी ने—
पचीस कुशल वर-वीरों को—
सज्जित कर; सज अस्त्र स्वयं,
ले चली साथ रण-धीरों को।

चमक उठीं शम्पायें, उनका—
छलक उठा, नभ में पानी,
जा पहुँची खाँ साहब के घर--
रुद्रानी - सी क्षत्राणी।

'कुछ होने जा रहा (!) आगरा में—
छा गया अकल्पित भय,
"खाँ साहब हैं ?" की पुकार पर—
आकर, ठहर गया संशय।

सेनापति दरबार के लिये—
उसी अश्व पर कुछ ही पूर्व—
चले गये थे. अश्व-प्राप्ति का—
आज, उन्हें था हर्ष अपूर्व।

रानी भी प्रत्यावर्तित हो—
जा पहुँची शाही - दरबार,
प्रत्यंचा - परित्यक्त - तीर सी—
गति थी उसमें भरी अपार।

किसका भय ? संकोच कहाँ का ?
किसकी उसे अपेक्षा थी ?
करती थी वह; वही, कि जैसी—
होती उसकी स्वेच्छा थी।

देखी सबने ही, रुद्र-मुद्रा, उस सिंहनी की
सारे दरबार बीच, कम्पन समा गया,
अधिकारी वर्ग, जमा हो गया सतर्कता से,
भीड़ में, भयद कुहराम भारी, छा गया।
शाह औरंग ज़ेब भी, थे निकल आये, शीघ्र—
मानस में सभों के, 'अमरसिंह' छा गया;
कितने ही नेत्र, थे 'राठौर' की कृपाण, यहीं—
देख चुके, उन्हें, वही दृश्य याद आ गया !

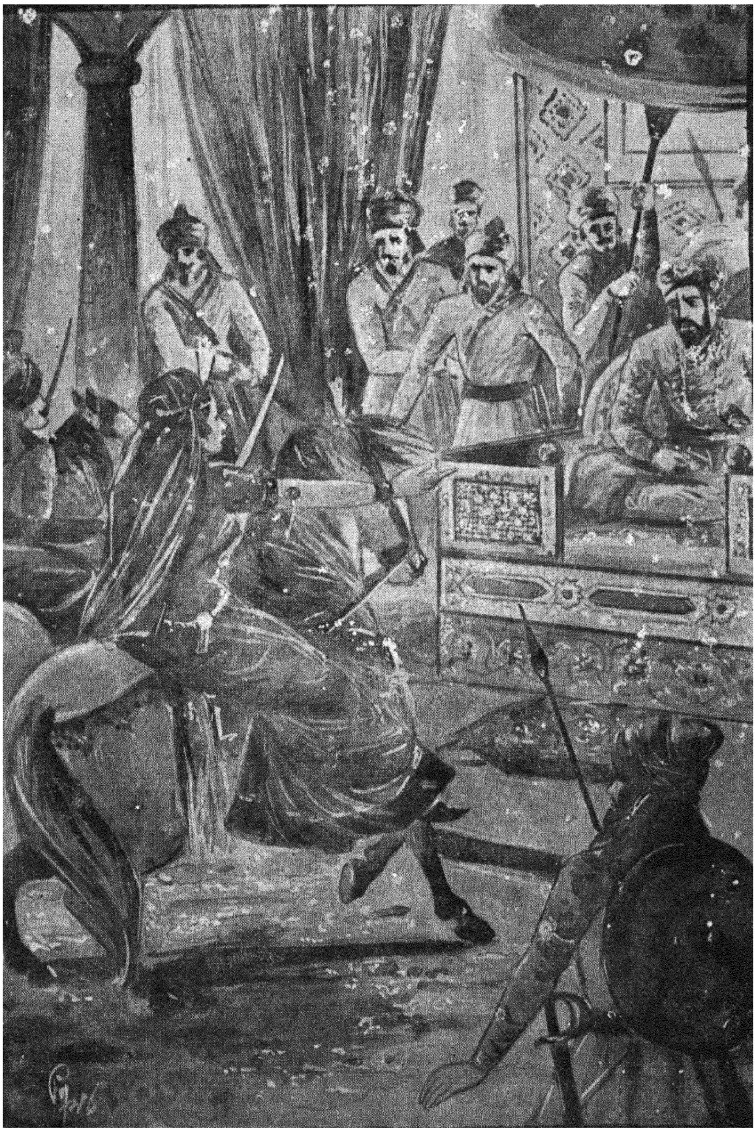

'ख़ाँ साहब !, धिक ! शर्म !! आप का पतन शोच्य है !'

कड़क उठा अनुक्षण खाँ साहब को प्रचारता—
सारन्धा-रव उच्च-प्रतिध्वनि को प्रसारता।
'खाँ साहब ! धिक ! शर्म ! आपका पतन यहाँ तक ?
पौरुष का उद्भास (!) यथाक्रम इस सीमा तक ?

यह नृ-शौर्य उद्दाम आपको चम्बल तट पर—
दिखलाना था उचित, उसे इतना कलुषित कर—
दिखलाया है एक निरे बालक के ऊपर।
अब भी कहिये गा अपने को रुस्तम भू पर ?

उस अबोध से अश्व छीन कर यों ले लेना,
खां साहब ! है ज्वलित हुताशन में हुति देना !
कायरता की सीमा भी (!) फिर सेनप द्वारा—
अवलंघित हो ! लज्जा लेगी कहाँ सहारा ?"

खाँ साहब की आँखों से रोषानल-ज्वाला—
निकल रही थी, और धूम्र सा काला-काला—
उन्हें हुआ प्रतिभान, रोष से रद-पुट फड़के
प्रतिध्वनि में ध्वनि मिला तीव्र-स्वर से वे कड़के।

"बस सुन चुका, आप सुनलें, थी चीज़ हमारी,
क्या मजाज जो ग़ैर करे यों दावेदारी ?"
"नहीं, आप की नहीं, चीज़ अब है वह मेरी,
उस पर मेरा स्वत्व, बजा कर ली थी भेरी।

चम्बल की घाटी ने उस पर मुहर लगाई !
मुझको सौंपी, साधिकार मैंने वह पाई !
युद्ध नीति का यह इतना प्रस्थूल अंग भी—
क्या यह सच है ? नहीं समझता सेनापति भी !"

"कुछ भी हो, पर यह घोड़ा; देने में क़ासिर,
एवज़ में लीजिये अस्तबल मेरा हाज़िर।"
"अपना घोड़ा लूँगी, क्या मैं भीख मांगती ?
दान-वृत्ति, खाँ साहब की मैं नहीं जाँचती (!)"

"वज़न बराबर लें इसके; मैं हीरे दे दूँ,
पर मुमकिन यह नहीं कि अपना घोड़ा दे दूँ।"
"अच्छा, तो इसका निश्चय तलवारों द्वारा—
कर लूँगी मैं आप अभी सब वारा न्यारा।"

सुनना था कि बुन्देला-वीरों की—
तलवारों ने पल में—
कर बिजली की रेखायेंदीं;
शान्त शून्य अम्बर-तल में।

निकट था कि दरबार-भूमि—
शोणित से प्लावित हो जाती,
आलमगीर-गिरा क्षण भर को—
कहीं मौन यदि हो जाती।

"ओ रानी साहिबा ! आप—
अपने सिपाहियों को रोकें,
जानकनी - ओ-ख़ूँरेज़ी पर—
इन आमादों को रोकें।

घोड़ा दिला दिया दिया जायेगा,
मगर आप को उसका मोल—
बहुत बड़ा देना होगा !
क्या दे सकती हैं उतना मोल ?"

"मैं सर्वस्व त्याग ने तक को—
भी, प्रस्तुत हूँ आज यहाँ,"
"क्या जागीर और मनसब भी ?"
गूँज उठा प्रत्युत्तर "हाँ ।"

"क्या रानी साहिबा ! राज्य भी ?"
"हाँ, अपना राज्यादि सभी ।"
"इस घोड़े पर ?" "न, जग की—
बे जोड़ वस्तु पर न्यस्त सभी ।

"क्या मैं उसे जान सकता हूँ ?"
"हाँ, अवश्य,""क्या ?" "अपनी आन !
अपनी आन-आत्म गौरव, पर—
करती हूँ सब का बलिदान ।"

सभी सभासद स्तब्ध (!) 'अरे !
रानी को आज हुआ यह क्या ?
दिल्ली का सम्राट (!) और—
औरंगजेब (!), सोचती न क्या !!

दिल्लीश्वर से टकरा कर भी—
पा सकता है कोई प्रेय ?
भला बड़ों से बात बढ़ाकर—
लिया कहाँ कब किसने श्रेय ?"

सचमुच ही घोड़े पर रानी ने—
जागीर, राजपद - मान,
ऐश्वर्यों का जगत, सभी कुछ
खो डाला क्षण में उत्थान ।

खो डाला भव का वैभव सब,
खो डाला भुवि का सुख-हर्ष,
जान बूझ कर खो डाला सब,
नियति का न ईषत्स्पर्श ।

यह महान महार्ह-त्याग-वर दृष्ट्य है,
आन पर सर्व का दान सु-स्पष्ट है ।
नाथा केवल इतना ही उसने किया,
संकट मय भविष्य अपना बना लिया ।

यह वह कटु-घड़ी थी, कि—
इसके परे—
गये शान्ति के दिन, न—
नृप के फिरे ।

●

—१०—

अब कहाँ ऋतुराज की—
वह केलि-कला-विलास-रंजन-स्थली ?
भाग्य में अलि के पड़ी—
हत, ऊष्मानल से विपन्ना बेकली !

थी आज विभव पर जय गौरव ने पाई,
भव के वैभव ने फिर से मुँह की खाई।
फिर से बुन्देला भूप गर्व में पग कर—
मनसब पद वा जागीर सभी कुछ तज कर—

आ गया ओरछा में शोकाकुल पर था,
वह इतना गुरुतम त्याग न सकता कर था।
'गौरव का इतना भारी मूल्य चुकाना !
इस सूक्ष्म-दर्शिता का भी कहीं ठिकाना !!'

ये भाव भूप के मन में सर्जित होते;
फिर जग कर क्षण भर वहीं 'स्व' में थे खोते।
पर, तद्विरोध का शब्द न उसके मुख से—
था निकल सका पीड़ित हो कर भी दुःख से।

वह सारन्धा के प्रकृति-वृत्त की भाषा—
पढ़ कर भी कैसे करता यह अभिलाषा?
इसलिये प्रिया से उपालम्भ का करना—
था स्वाभिमान की लता समूल कतरना।

अतएव पी गया वह यह कड़ुवा प्याला,
था स्वाभिमान भी कैसा अहो निराला?
इस तरह भूप ने फिर स्वदेश की प्यारी—
सुख-शरण-शान्तिदा मंजुल मूर्ति निहारी

❀ ❀ ❀

किन्तु शान्ति का वहाँ मान कब होने वाला,
जहाँ आन पर सर्वनाश है होने वाला,
सुधी, शान्ति को मरण प्रतीक बताया करते
जीवन है; संघर्ष, वीर जन पाया करते।

तो, रानी की ममोच्छेदन-कारी बातें;
गरबीली की तिक्त हृत्स्पर्शनकारी बातें—
काफ़िर की आत्माभिमान की तीखी बातें—
दिल्लीश्वर के साथ एक सेवक की बातें!—

क्या कोई अपना प्रभाव भी दिखलावेंगी?
या यों ही चिरशान्ति-अङ्क में सो जावेंगी?
जायेगा क्या भूल उन्हें दिल्लीश्वर सहसा?
आत्म-बोध कर भी, जायेगा क्या वह रह-सा?

'नहीं ! नहीं !! यह कभी नहीं है सम्भव होना !
दिल्लीश्वर का प्रतिगामी बन, कल से सोना !
क्षमा और औरंगजेब से उसकी आशा !
सिकता में से स्नेह-प्राप्ति की-सी जिज्ञासा !!

ज्यों ही हुआ भाइयों की चिन्ता से खाली;
दृष्टि ओरछा पर तुरन्त ही उसने डाली।
गर्वी चम्पतराय ! आन पर मरते हो तुम ?
देखूँगा मैं तुम्हें कि अब क्या करते हो तुम ?

तुम को वह औरंगजेब क्या भूल गया है ?
दया हया सब खो बैठा जो पूर्णतया है !
जिसने अपना वृद्ध पिता भी क़ैद किया है !
सगे भाइयों का शोणित भी बहा दिया है !

बिना हिचक, धर कर सिर पर, लोकापवाद को—
जिसने अपने अप्रतिम भट भाई मुराद को—
लोभ तख्त का देकर, अपने साथ मिलाया,
मूर्ख बना, ग्वालियर क़िले में 'क़त्ल कराया !

जिसने अपने सगे भतीजे सुलेमान पर—
तरस न खाया, उठते से उस नौजवान पर,
डाले रक्खा ग्वालियर क़ेगढ़ में तब तक,
निकला नहीं जनाज़ा बाहर उसका जब तक।

जिसने अपने पुत्र मुहम्मद की सच्छिक्षा—
मान न, दी उसको अपने ही ढब की शिक्षा (!)
ग्वालियर का कोट मुहम्मद ने भी पाया !
बन्दी जीवन सुलेमान के साथ बिताया !

जिसने दी निज ज्येष्ठ भ्रातृ दारा को कारा,
साधारण सा घर ! चिथड़े ! जीवन दुखियारा !
वह दारा, जो शाहजहाँ का अतिशय प्यारा !
गन्दे नंगे हाथी पर घूमा बेचारा !!

दे कितनी ही घृणित यातनायें, मरवाया !
शिरच्छेद कर वृद्ध पिता की नज़र' कराया !
यों, दारा-भाई; का, जिसने किया प्यार है !
क्रूर दनुजता भी कर उठती हहाकार है !!

जिसने भाई शुजा को न दी कल, पल भर को !
अराकान में क़त्ल कराया एकोदर को !
जिसने करुणा, क्षमा, नहीं स्व-जनों पर भी की—
कर रक्खी चंगेज़ हलाक् की कृति फीकी !!

उसके होते हुए हौसला इतना भारी ?
राजा चम्पतराय ! तुम्हारी आई बारी !!
सम्हलो ! सम्हलो ! अब न देर वह स्वल्प करेगा,
सब से है निश्चिन्त, तुम्हीं पर चोट करेगा !'

उसने समर-सुपंडित बाइस सामन्तों को -
भूत मोर्चों के विजयी वर-बलवन्तों को—
देकर पुष्कल सैन्य गर्व औद्धत्व-दलन को—
भेजा, नृप का दर्प-दमन, उन्माद (!) स्खलन को।

कितने विभीषणों ने भी था हाथ बँटाया,
कितने ही जयचन्दों ने भी पुण्य (!) कमाया।
बचपन का वह मित्र बन्धु सहपाठी प्यारा—
बना भूप के लिये आज 'शुभ करण' दुधारा।

बट कुल्हाड़ी का बन कर वह सुभट बुन्देला—
मातृभूमि की छाती पर तक्षक सा खेला।
उसने बीड़ा लिया नृपति को सर करने का।
स्वाभिमानिनी जननी का गौरव हरने का।

शाही सूबेदार शुभकरण का मेचक मग—
गह; कितनेक बुन्देलों के बह उठे तरल-डग
सबने ही स्वजाति पर निज तलवार उठाई,
सबने ही स्वजाति पर व्रण की व्यथा जगाई।

बने आगरा के जा कर वे क्रीत, अभागे,
देश जाति के तन पर वे फोड़े से जागे।
हा कितना यह पतन! क्षत्रियों की दुर्बलता!
किसको कटु फल आज नहीं है इसका खलता?

एक घोर संग्राम हुआ दोनों पक्षों में।
एक रक्त था, किन्तु बहा दोनों पक्षों में।
भाई की तलवार और भाई के सिर पर—
खेल उठी, गिर पड़ीं, धरा पर, देहें चिरकर।

हुआ एक कोलाहल भारी और वहीं पर—
क्रम-क्रम लय हो गया व्योम में, और मही पर—
शिरच्छिन्न कर-पाद-विगत शव पड़े रह गये।
और कुछेक व्रणाहत मरणासन्न रह गये।

उनके दुखिया तृषित नेत्र कुछ माँग रहे थे,
किन्तु हताश अभागे कुछ भी पा न रहे थे।
जीवन के इन शून्य क्षणों की कोई आशा—
पूरी होती भला कहीं देखी अभिलाषा?

रक्त-पिपासु स्वार्थ में अन्धे हा मनुजों के—
लख पैशाचिक कृत्य, नत हुये मुख दनुजों के।
मानवता हो गई निराश्रित रण में अशरण,
कुलक रही थी हृदय-हीनता निर्दय दारुण।

❀ * ❀

थे यद्यपि विजयी हुये नृपाल आज के रण में,
पर खो बैठे वे हाथ शक्ति से इस जीवन में।
जिन वीर भटों पर अतुलशक्ति का उन्हें गर्व था,
कर दगा उन्होंने सर्व गर्व कर दिया खर्व था।

अपरान्य बुन्देले राजा भी ओरछा नृपति से—
थे विमुख हो गये और मिल गये दिल्ली पति से।
वे साथी, जो दाहिनी भुजा रण में नृप की थे—
थे खेत रहे, जो बचे, हुए वे रिपु-साथी थे।

अब सम्बन्धी जन तक भी निज सम्बन्ध भूल कर—
बचते थे, नृप को मूर्तमान 'प्रतिकूल' जानकर।
थे सब अपने, हो गये पराये, आपद् क्षण में,
अपनी छाया भी, हट जाती, काया से, तम में!

सब इष्ट-मित्र प्रियजन सम्बन्धी हितू सगेरे—
दूरातिदूर हो गये न आते नृप के नेरे।
था किन्तु दृढ़व्रती नृप का दुस्साहस भी कैसा!
है किन्हीं साहसी वीरों में ही मिलता जैसा।

नृप सब छोड़ दियानेराज्यादिक विभव भोगभी,
था केवल साहस और धैर्य को रखा, दे सभी।
हा वही भूप जो मुगल राज्य का सुदृढ़ स्तंभ था—
सब त्याग विवश कर रहा वन्य जीवनारम्भ था।

वह यशोभूमि ओरछा ! अमल जिसका अतीत था—
जिसका गौरव गुरु उच्च, दर्प अविचल अजीत था—
श्री महाराज रण-रुद्र-देव ने अमिट सुयश से—
था जिसे सँवारा, सदा बचाया कटु अपयश से,

श्री हरिश्चन्द्रजी ने भी जिसका अक्षय गौरव—
रक्खा था, और दिया अर्जित कर के भी अभिनव।
'था मारा मारा फिरा हुमाहूँ जिसके कारण—
कुछ कर न सका था जिसकी उद्धत शक्ति निवारण—

था मालदेव का जोधपूर जिसने छितराया,
जिसने अपना; चित्तौड़ दुर्ग पर ध्वज फहराया,
वह शेरशाह सूरी भी अपनी कीर्ति गिरा कर—
ले हरिश्चन्द्र से चोट गया रण में टकरा कर।

जिसका भारत सम्राट जयी अकबर महान भी—
कर सका न कुछ भी, विफल हुआ रण-ठान ठान भी।
बन मधुकर, मधुकर शाह सुमन-अकबर-प्रताप का—
चूस सब लियामाधुर्य, ले लिया सुरस दाप का—

फिर वीर सिंह ने भी अकबर का दर्प दुराया,
था वीर प्रसू ओरछा-अवनि का गर्व निभाया।
यों मुँह की खानी पड़ी सदा जिससे अकबर को,
करनी तक संधि पड़ी विवाध्य हो दिल्लीश्वर को।

जिसको श्री इन्द्रजीत ने अलका तुल्य सजाया,
वर-सुधी-पंडितों से मंडित कर यश बगराया।
फिर केशव ने जिसकी सु-कीर्ति को काव्य सुधा में—
है विनिमज्जित कर अमर कर दिया इस बसुधा में।

यों जो अपने में रहा गर्व मय उन्नत अविचल—
जिसका यश रहा प्रशस्त धवल-कल अविकल अतिबल
हा वही, ओरछा आज काल के कुटिल चक्र ने—
यों छुड़ा, किया नृप को वनवासी भाग्य वक्र ने।

अति सघन झाड़ियों और पादपों के आश्रय में—
बुन्देल खंड के वन्य पर्वतों के आलय में—
वे छिपे, न तो भी नींद कभी कल की ले पाये,
जब जहाँ रहे वे, गये शत्रु के हाथ सताये।

शाही सेना यों पड़ी हुई थी उनके पीछे,
हो लुब्ध अहेरी पड़ा यथा मृगव्य के पीछे।
उसका, नृप को बन्दी करने का लक्ष्य एक था,
उद्बुद्ध लक्ष्य के लिये चरम उसका विवेक था।

इस अनाश्रयावस्था में भी जब तब भूपति से,
हो हो रहती थी पकड़ धकड़ प्रतिद्वन्दी दल से।
तो भी नृपाल थे उसको इसका मजा चखाते,
थे मुँह की खाये बिना न अरि जन जाने पाते।

थी नृप की रानी सदा साथ ही नृप के रहती,
जब जो भी आने क्लेश धैर्य से उनको सहती,
वह नृप के दुख में दुःख, सौख्य में मोद बँटाती,
थी अर्द्धांगिनि अर्द्धांश सभी में अपना पाती।

जब कठिन आपदायें आकर धीरज हरती थीं,
हो कर आशायें क्षीण, तमावृत पथ करती थीं,
जब उसका साहस और धैर्य अस्थिर होता था,
किंवा कोई शैथिल्य अपर दृग्गत होता था—

तब आन निभाने का कठोर व्रत मूर्तमान हो,
मानो कहता था उससे 'सम्हलो ! सावधान हो !
लो अपनाओ तुम मुझे, त्याग कर भी सब अपना
यह राज्य-सौध-सुख भोग विभव, तो केवल सपना।

सुख-शैया-शायी कब मर कर भी (!) बने अमर हैं ?
सोते काँटों की सेज पर सदा भीष्म प्रवर हैं !
हैं मर्त्य ही सदा सुख के अहरह साज जुटाते,
वे हैं अमर्त्य जो रत-परार्थ हो कर सुख पाते।'

तब उत्तर में वह वही गूँज उठती नस-नस में—
'ओ राज हंसिनी आन ! बिहरु मेरे मानस में।
तेरा कटु रक्षण, भरण और पोषण हे प्यारी !
मैं खो कर भी सर्वस्व करूँगी नित सकुमारी !

इस तरह झलक दुर्बलता की दृढ़ता-प्रकाश में—
थी लय हो जाती, ज्यों उडुगण प्रातराकाश में।
यों तीन वर्ष तक बिता दिये वन वासी नृप ने,
रिपु रहे देखते उन्हें पकड़ने के ही सपने।

सब तरह विवश हो रहे, ननृप की झाँकी पाई,
उ.ब पाई भी तब खूब करारी मुँह की खाई।
अन्ततः सभी सूबेदारों ने हार मान कर—
औरंगजेब को लिखा 'आप ही आयें सजकर।

यह शेर आप के सिवा न कोई मार सकेगा !'
इसके मुकाबिले ताब (!) कि कोई ठहर सकेगा !'
उत्तर आया, 'लो फौज हटा वापस आ जाओ,
दुश्मन की ताक़त पर मन अपना ज़ोर लगाओ।'

यों देख भूप ने शत्रु-शक्ति का,
निकला हुआ दिवाला—
समझा, बैरी कर गया सदा के—
लिये, आज मुँह काला।

किन्तु,
भ्रान्ति थी नृप की,
जिसका सब उपचार—
कर अदृष्ट ने दिया,
शीघ्र ही भली प्रकार।

—११—

खरी-परीक्षण-ताप, आज कसौटी थी बनी,
मर्यादा की बात, गात-गात में रम रही।

थे उस दिन भूले भूप, आज वह भ्रान्ति ही;
हत; अति कठोर बन अनृत, आगई आप ही।

बीस बार निज कक्ष पर,
जब से घूमी यह रसा,
होती ही नृप को गई—
वह, अधिकाधिक नीरसा।

घेर चुका था ओरछा, विकट-शत्रु का जोर,
परे हुआ था बहुत, इस असित निशा का भोर।

आज ओरछा के सु-दिनों की;
आई निशा अँधेरी,
आशाओं की पतित हो रहीं;
उल्कायें बहुतेरी ।

बीस हज़ार पुरुष बालक-गण,
और नगर-बनितायें—
घिर कर आज दुर्ग में सहतीं
बाधायें विपदायें ।

आधे से कुछ अधिक नारियाँ—
उनसे कुछ ही ऊनी—
शिशु-संख्या है घिरी कोट में
पुरी पड़ी है सूनी ।

पुरुष दिनों दिन घटते, करते—
रण चण्डी की सेवा,
व्रताचरण-रत वामायें हैं—
नित्य मनातीं देवा ।

नहीं किले में कोई रिपु से—
बच कर जाने पाता,
और न कोई भीतर से ही—
बाहर आने पाता ।

अब सामान रसद का है, रह—
गया नाम को थोड़ा,
पुरुष और शिशु जियें, अतः—
बधुओं ने भोजन छोड़ा ।

करती हैं उपवास नारियाँ—
बिना अन्न बेचारीं,
शत्रु कोसती हैं कन्यायें—
विपत्पीड़िता सारी।

और अल्प वय वाले बालक—
दीवारों में छिपकर—
लक्ष्य साध-से सरुष फेंकते—
पत्थर अरि के ऊपर।

पर बेचारे बालक ही तो!
उनके फेंके ढेले—
मुश्किल से दीवार पार—
कर पाते ठेले ठेले।

और ओरछाधिप की हालत?
ज्वर से जर्जर निर्बल,
जरा-प्राप्त-काया की छाया-सी—
शैयागत केवल!

उन्हें देख कर रहा सहा भी—
धैर्य, लोग खोते थे,
बिना पोत वे सभी, दुखार्णव—
में खाते गोते थे।

जहाँ नृपति को देख सभी को—
कुछ धीरज होता था,
आज उन्हें रोगी निहार
जन-जन दुखिया रोता था।

वृद्ध भूप की उच्छ्वासों में—
आशायें रोती थीं,
उनकी करुणार्द्रित आँखों में—
पीड़ायें सोती थीं।

आशा कहाँ ? निराशा की—
छाई कालिमा घनेरी,
आज ओरछा के सु-दिनों की—
आई निशा अधेरी !!

राजा ने करवट बदली, बोले—
कराह कर, "प्यारी !
निश्चय आज शत्रु हो जायेगा—
गढ़ पर अधिकारी।

इन अनाथ बालक बालाओं—
की, रक्षा हो कैसे ?
गेहूँ साथ आज यह भी, पिस—
जायें गे घुन जैसे।

इनकी चिन्ता प्रिये न कल से—
मरने भी अब देगी,
हा अभाग्य लिपि ! यह असह्य—
यातना और अब देगी।"

"कभी न हो हे ईश्वर ! ऐसा"
दुखिया रानी बोली।
"नाथ ! कहो तो कहूँ बात, जो—
मैंने मन में तोली।

यदि हम लोग क़िला खालीकर—
निकल चलें तो कैसा ?"
"रानी ! इन दुखियों को तज कर ?
उचित इस समय ऐसा ?"

"नहीं नाथ, पर आज छोड़ने में—
ही, कुशल दिखाती,
होते हमीं न गढ़ में, रिपु की—
सेना ही क्यों आती ?

फिर यदि हम न मिलेंगे तब तो—
इन लोगों को पाकर—
निश्चय शत्रु लौट जायेगा, उचित—
दया दिखला कर।"

"नहीं, नहीं सारन ! यह मुझ से—
कभी न होगा करते।
इस कलंक को ले जाऊंगा, क्या—
अब मरते-मरते।

जिन वीरों ने मुझे मान कर
अपनी जानें छोड़ीं
उनके दुःखी परिजनों ने, मुझ—
से, आशायें जोड़ीं।

उन माताओं को, कि जिन्होंने—
निज जवान लालों को—
उन विधवाओं को, कि जिन्होंने
निज सुहाग वालों को—

उन बहिनों को जिन्होंने कि—
अपने अपने भाई को,
अपने अपने भाई की शुचि—
राखी-पात्र कलाई को—

भोले शिशुओं को, कि जिन्होंने—
पितृगोद के सुख को—
मुझ पर है उत्सर्ग कर दिया—
खो कर जीवन भर को—

कैसे छोड़ूँ तुम्हीं कहो, वे—
मातायें विधवायें,
उन वीरों की बहनें, उनके—
भोले शिशु कन्यायें।

इस शरीर के रहते-रहते—
कभी न उनको छोड़ूँ,
आज भीरु बन कर, इन दुखियों—
से ही क्या मुंह मोड़ूँ ?"

"लेकिन स्वामिन ! रह कर भी हम—
यहाँ मदद क्या उनकी—
कुछ भी कर सकते हैं ? कैसी—
विडम्बना जीवन की ?"

"शुभे ! आज उनकी रक्षा में, हम—
असमर्थ निरे हैं,
उनके साथ प्राण देने में, भी—
क्या किन्तु गिरे हैं ?

उनकी रक्षा में मैं अपना—
जीवन ही दे दूंगा,
जो भी आये इस, शरीर पर,
मैं सहर्ष सह लूंगा।

रिपु-कारा की क्रूर यातनायें—
भी सहन करूँगा,
किन्तु अरक्षित छोड़ उन्हें, मैं—
कहीं न पैर धरूंगा,

इस संकट में उन्हें अकेला छोड़,
स्वर्ग का सुख भी—
प्राप्त मुझे हो यदि, तो छोड़ दूँ,
करूँ न चिन्ता कुछ भी।"

कहते-कहते नृप ने देखा—
रानी की दृग रेखा—
भू-पतिता हो गई, वहाँ ज्यों
समाधान - सा देखा।

रानी लज्जित हुई सोचती थी—
यह अपने मन में—
ऐसी तो स्वार्थान्ध हुई थी—
कभी न मैं जीवन में।

निश्चय ही प्रिय अनुग सहचरों को—
तज कर यों, अपनी—
जान बचाना, घोर नीचता भरी
वृत्ति है अपनी।

अब तक जिस दुर्बलता ने है;
मुझे न छू भी पाया,
आज हाय धर दबोचने ही—
आई, उसकी माया।

सहसा एक नवीन युक्ति से—
उसकी मूक अवस्था—
भंग हुई, बोली "तो यह तो—
होगी उचित व्यवस्था—

कि, यदि आप को हो जाये विश्वास—
कि ये बेचारे—
त्रस्त न होंगे अतिचारों से;
हो कर हम से न्यारे।

तब तो आप चल सकेंगे? या—
फिर भी कोई द्विविधा?
दे जो मेट दैव रे! यह भी—
अगति-वारिणी सुविधा?"

"ऐसा कटु विश्वास दिलाने का—
दायित्व, सयानी!
कौन करेगा अपने सिर, ले—
लेने की नादानी?

'मेरे जाने पर मेरे जन—
फिर निश्चिन्त रहेंगे।'
यह दायित्व कौन लेगा?
"वे बाधा-मुक्त रहेंगे"

"सेनापति का, नाथ ! प्रतिज्ञा पत्र,"
"सुनो तब प्यारी !
मैं सहर्ष चल दूँगा, होगी—
मुझे न कुछ लाचारी ।"

बूढ़े राजा से रानी ने
यों निश्चय ठहरा कर—
दुर्ग-त्याग-प्रस्ताव भूप से
स्वीकृत-पारित पाकर—

लगी सोचने, 'किन्तु कठिन सा !
प्रतिबन्धन का बन्धन'
कैसे किया जा सके गा, यह—
सफल, जटिल अतिबंधन ?

बादशाह के सेनापति से
ऐसी कड़ी प्रतिज्ञा—
कैसे राम ! कराऊँगी, कुछ
सूत्र, न देती प्रज्ञा ।

ले कर ही प्रस्ताव वहाँ पर
कौन जायगा मेरा,
फिर वे लगे मानने ही क्यों—
प्रणत-निवेदन मेरा ।

जब कि विजय की आशा से हैं—
फूल रहे अभिमानी;
फिर क्यों लगे निर्दयी सुनने—
मेरी करुण कहानी ।

वाग्वीर नय-कुशल-सुधी भी—
कोई नहीं दिखाता,
जो कौशल से यह दुरूह गुरु—
कार्य, सिद्ध कर लाता।

छत्रशाल चाहे तो निश्चय—
सहज बुद्धि से, इसको;
कर सकता है, क्योंकि सभी गुण—
प्राप्त हो रहे उसको।'

यों निष्कर्ष मनोगत कर—
रानी ने उसे बुलाया,
किन्तु साथ ही उसका—
जननी-सुलभ हृदय भर आया।

यह रानी के सभी कुमारों में—
था, भट नर-बंका;
चतुर साहसी शत्रु-मात्र को—
मूर्तमान था शंका।

रानी भी सर्वाधिक उस पर—
मातृ-स्नेह की छाया—
रखती थी, था वह ही केवल—
उसके चित्त समाया।

आ कर छत्रशाल ने जब—
माता को शीश झुकाया
मा की तब गरीब आँखों में—
विवश नीर भर आया।

उसका कोमल हृदय, धड़कने—
लगा, प्यार का लोभी,
हुआ समर्थ न एक व्यथित—
निःश्वास रोकने को भी।

सुत बोला "मां, दास उपस्थित,
क्या अनुशासन उसको ?"
"आज युद्ध की गति-विधि कैसी ?
आशा कैसी किसको ?"

"अब तक शूर पचास हमारे,
खेत आ चुके रण में,"
"हा हतोस्मि, अब लाज बुन्देलों—
की है, प्रभु के कर में।"

"मां, हताश क्यों ? आज निशा में—
छापा अरि के ऊपर—
मारूँ और पराभव दे, लूँ—
विजय-कीर्ति इस भू पर।

मां, मैं आज खड्ग से, अरि की—
छाती पर गौरव से—
स्व-विजय-वृत्त लिखूँगा निश्चय—
ही शोणित की मसि से।"

"ऐसा ही हो बेटा, तेरा—
कीर्ति-पुंज यश सौरभ—
फैले और उत्तरोत्तर हो,
शत्रु-दर्प क्षत-निष्प्रभ।"

फिर रानी ने तनय सामने,
तत्कालीन अवस्था—
पर विचार कर, दोहराई—
अपनी आयोज्य व्यवस्था।

बोली पुनः "जाय यह सौंपा—
काम, बताओ किसको ?"
वीर पुत्र ने कहा "जननि ! इस—
प्रीति-पात्र जन मुझको।"

"क्या तुम पूरा कर लोगे" "हाँ—
माँ, विश्वास यही है,
इस सेवक के लिये काम यह
कुछ भी बड़ा नहीं है।"

"तो जाओ, सर्वेश, मनोरथ—
पूरा करें तुम्हारा,
मंगल-मय का पाओ बेटा !
शाश्वत सफल सहारा।"

जब पदाब्ज-रज शिरोधार्य कर—
चला तनय बड़भागी,
माँने उसे अङ्क भर चूमा,
वत्स-प्रेम-अनुरागी।

और गगन की ओर हाथ कर—
वह धन्या अकुलानी,
सजल-नयन अवरुद्ध-कण्ठ—
वह बोली कातर-वाणी।

'बुन्देलों के गौरव पर मेरा, यह भेंट; दुलारा ।'

"दयानिधे ! यह तरुण तनय, यह—
होनहार सुत प्यारा,
बुन्देलों के गौरव पर—
करती हूँ भेंट दुलारा।

मैं दुखिया हूँ आज मरी-सी—
यह अमूल्य धन देकर,
अब यह आन निभाना भगवन् ?
एक आप के ऊपर।

नाथ ! गरीबिन ने—
अमूल्य निधि—
अर्पित की है—
हृदय मसोस।

एक 'आन' पर !
अंगीकृत कर—
दुखिया को—
दीजो परितोष।

छत्रशाल को—
दे कर मैंने—
लिया हृदय है—
अपना साल,

मातृ-हृदय की—
हाय विकलता !
हाय विह्वलता !
हा रे लाल !!

●

–१२–

दूसरे दिन जब प्रातः काल;
किया अरुणा ने प्राची-भाल—
रुचिर - अनुरंजित - सज्जित - लाल,
सजा कर तब पूजा का थाल—

चली मन्दिर को कल्याणी,
उचित सामग्री सज रानी।

मुदित थी आज न वह मन में,
प्रकट थी श्रान्ति शिथिल तन में।
पीतिमा गहरी आनन में—
निराशा कड़वी जीवन में—

झलक थी मार रही उसके।
कुदिन कब साथी हैं किसके?

कृशाङ्गी वह दुखिया बेहाल—
व्यथित ज्यों शफरी पड़ कर जाल,
नत किये अपना उन्नत भाल,
मनोगत सब अरमान निकाल,

जा रही धरने प्रभु के तीर,
हो रही अनुक्षण अधिक अधीर।

अभी वह, मन्दिर के ही द्वार—
पहुँच पाई थी, किसी प्रकार,
प्रथम इसके कि देहली पार—
करे वह, मिला उसे उपहार।

अचानक व्योम कक्ष को चीर—
गिरा उसकी थाली में तीर।

तीर क्या था उसका अग्राङ्ग—
लिये था आशा का एकाङ्ग,
पुलक उट्ठा उसका शुभ्राङ्ग,
पढ़ गई उसको साङ्गोपाङ्ग।

नोक में नत्थी चीठी थी,
आह कितनी वह मीठी थी!

शुभाशा की उठ एक हिलोर,
कर गई उसको हर्ष विभोर।
अपर क्षण पर उसका ही जोर—
डालने उसको लगा मरोर।

हर्ष लय हुआ एक क्षण में,
यथा हो क्षणिक-प्रभा घन में।

'हाय यह कागज का टुकड़ा !
पड़ा कितना मुझको अकरा !!
हृदय कर पत्थर तुल्य कड़ा,
दिया रे, सुत ही को जकड़ा !

हन्त, इस काग़ज का यह मोल ?
दिया किसने कब इतना मोल ?

किन्तु असमय की गुन कर बात,
सहा उसने यह महदाघात,
पुनः विधि-विहित स्वकृत्य निपात,
चली वह तेजोमयि अवदात।

सौध में आकर वह तत्काल—
गई, शायी थे जहाँ नृपाल।

व्यष्टि का हित था उसे न इष्ट,
लक्ष्य था सुन्दर श्रेय-समष्टि।
इसी से होकर वह आकृष्ट;
खोजती थी कोई पथ शिष्ट।

अहो, उसके मन की हो ली,
वचन वह नृप से यों बोली।

"वचन जो दिया, निभायें तात !
कुल-व्रत पले जयी-कुल-जात !"
श्रवण कर यह स्वजनी की बात—
किया साश्चर्य भूप ने ज्ञात—

"प्रतिज्ञा अपनी दुष्कर भूरि—
वरिष्ठे ! करली है सम्पूरि ?"

सपदि रानी ने वह प्रण-लेख—
दिया, नृप ने गौरव-भर देख—
कहा (यद्यपि थे व्यग्र विशेष)
"नहीं अब कथन मुझे कुछ शेष।

चलूगा अब मैं त्याग निकेत,
सहूँगा सब कुछ धैर्य समेत।

किन्तु क्या मुझ को है सन्तोष?
विवश-गृह-निर्वासन पर तोष?
नहीं, यह मेरा पौरुष-कोष—
कभी भर कर, उगले गा रोष (!)

शत्रु का तब उद्धत प्रति-गर्व,
ध्वस्त हो जायेगा यह सर्व।

किस तरह हो सकता हूँ शान्त,
शत्रु-कृत पाकर मैं एकान्त!
आज जर्जरित रोग से श्रान्त—
हो रहा हूँ कैसा उद्भ्रान्त!

खबर फिर मे अरि की लूँगा,
न कल से अब रहने दूँगा।

विजय-सम्भव उसका उन्माद—
नहीं दे सकता मुझे विषाद।
स्वयं वह नारकीय अवसाद—
भरे गा, भोगेगा अपवाद।

अनागत में वह नाति विलम्ब—
करेगा अर्जन अगति-कदम्ब।

खेद केवल इतना सारन !
कर सका मैं न आप वारण ।
वरन कर अरि का कृत धारण—
कर रहा निर्गम-निर्धारण ।

करूँगा पूर्ण, परन्तु अपूर्ण,
तूर्ण ही कर अराति-मद चूर्ण ।

ओरछा का नरपाल वही,
खरी जिसकी करवाल रही !
सदा गरबीली चाल रही !
कि जो अरि को भी साल रही !

आज इस भाँति चले रानी !
'दैव की है किसने जानी ।'

किन्तु सारन ! सच बतलाना,
हुआ कैसे इसका पाना !
उसे, जिसका हल हो जाना—
असम्भव ही था अनुमाना

किया कैसे पूरा तुमने ?
दिया विनिमय में क्या तुमने ?"

"बहुत कुछ नाथ ! तरुण सुत एक—
छोड़ कर उचितानुचित विवेक—
बुन्देलों की रखने को टेक—
सहन कर भी कटु पीड़ानेक—

पड़ा रिपु को देना हा हन्त,
मिला तब कहीं पत्र यह कन्त !"

वाण सा खाया नृपवर ने,
काट खाया ज्यों विषधर ने,
या कि उनको हत ही करने—
कम्पयुत आ घेरा ज्वर ने।

सभय पूछा "क्या अंगदराय—
फँसाया गया हाय निरुपाय?

या कि फिर रतनशाह पर टूट—
ले गया उसे दैव है लूट!
अथच दुर्दृष्टा की गति-कूट—
पड़ी प्रिय छत्रशाल पर छूट?

बताओ तो मेरी रानी!
दुरा किस पर असि का पानी?"

"नाथ, सब कहना ही होगा!
भाग्य का सहना ही होगा!
अनल में दहना ही होगा!
हताहत रहना ही होगा!

हाय वह छत्रशाल सा इष्ट—
ले गया मुझसे हर दुर्दृष्ट।"

विद्ध शर से हो कर जैसे—
गिरे द्विज, नृपवर भी वैसे—
उछल कर, संज्ञा-हत कैसे—
गिरे, सम्हले जैसे-तसे।

भला पवि के निपात पर भी—
खड़े रह सकते गुरु-तरु भी?

व्यथी ने एक दीर्घ निःश्वास—
खींच कर कहा "हाय विश्वास—
शत्रु का कैसा ? आज विनाश—
दैव कृत दुर्दिन-प्रत्यय-भास—

हो रहा, यह कैसा व्यवधान ?
अरे ओ इस भव के भगवान !!!

हमारी आशाओं का आज—
हो गया उज्झित सुख-साम्राज्य,
'छत्र' मेरा हा बन्धक आज !
गिराई विधि ने कैसी गाज !

हमारे में होली डाली !
सपत्नों के घर दीवाली !!

और यदि कहीं 'छत्र' सा वीर—
शत्रु-कृत हुआ आज अशरीर !
प्रिये, फिर और सुभट ध्रुव-धीर !
नहीं, जो डाले अरि को पीर।

बुरा तुम से यह कृत्य हुआ,
बुन्देला-दिनमणि अस्त हुआ।"

भूप की आशाओं का शेष—
यही आलम्बन था सविशेष,
इसी से उसको यथा विशेष—
प्यार करते थे अधिक नरेश।

पड़ा उसको अरि-कर में जान—
आज भूपति थे विकल महान।

हा आज वह ही दुर्घटी—
दौर्भाग्य-कर्षित आ घटी,
जब प्राण-रक्षा की विषम तम योजना—

सम्यक निभाने के लिये,
बिगड़ा बनाने के लिए,
पथ गुप्त, रानी को पड़ा है खोजना।

वह पालकी में भूप को,—
'अरि को कृतान्त-स्वरूप वो'—
बैठा, हुई फिर स्वयं अश्वारोहिणी,

फिर दुर्ग के पथ गुप्त से—
जब शत्रु सारे सुप्त थे;
तब निकल कर चलदी अमिति अभिमानिनी।

तम-तोम का प्राबल्य था,
सु-स्पष्ट सा वैफल्य था,
दुःखद निशा की कालिमा थी छा रही।

नैश - नीरवता - विपुलता—
गहन की भीषण गहनता—
भंग कर, वह पार करती जा रही।

थी आज ही जैसी निशा,
वह भी बड़ी ही कर्कशा,
हत, जब कि रानी ने चुटीली सी गिरा—

प्रिय-विरहिणी को लक्ष्य कर—
गुरु गर्व को प्रत्यक्ष कर—
थी कही, उसका आज प्रतिफल सा फिरा।

था शीतला ने जो कहा,
है आज वह ही हो रहा।
रानी स्वपति को है छिपा कर जा रही।

पर रहो, ठहरो, मत बहो,
देखो कहाँ तक सत्य हो—
'वह प्रति-कथन भी, क्योंकि बारी आ रही।

भाभी का भावी कथन,
हुआ आज सम्पन्न।
प्रत्युत्तर भी ननद का,
होगा क्या प्रतिपन्न ?

—१३—

जिसका मंजु प्रभात, खिला सु-गौरव क्षितिज में !
आई उसकी रात, शोणित-सन्ध्या से सनी !!

लिख आज लेखनी, वही क्षात्र - गौरव - कथा !
जिसका था उज्वल भूत गर्व मय सर्वथा।
हैं इतिहासों के पृष्ठ आज नीरव बने,
वे कहें क्या, कि हैं स्वयं रक्त से सब सने।

दो पहरी का समय मौलि पर प्रखर दिवाकर—
निष्ठुर बन कर गिरा रहा था तीव्र कर-निकर।
भीष्म ग्रीष्म का चंड पवन उत्पात मचाता,
बनों पर्वतों में फिरता था आग लगाता।

थी अवनि, अवा-सी जल रही;
दिनकर - कर - उत्ताप से,
नभ उष्ण श्वास को खींचकर—
काँप रहा था ताप से।

आकुल कण-कण तृण-तृण तल-तल झुलस रहा था,
आ-भू-नभ सन्तप्त-तप्त हो विवश रहा था।
ले कर नभ का नीर धरा ने था न चुकाया,
ऋण-शोधन का पन्थ व्योम ने यह अपनाया!

भड़क उठी पर - प्रतिक्रिया—
भूतल के प्रति रोम में,
वह उठा बगूले धूलि के—
लगा फेंकने व्योम में।

हुई सभीता छाया भी तरुओं के नीचे,
विकल कोटरों में प्यासे थे खग दृग मींचे।
हिंस्र जन्तु भी खड़े विवश अपना मुँह बाये—
गवादिकों की छाया में, निज वृत्ति भुलाये।

धू-धू कर चलता था पवन,
पथिक गमन थे तज चुके।
रोके भी भारी तृषा को—
खग-मृग-जन थे सब रुके।

वह भीषण झुलसाने वाला पवन वेग भी—
सका न सारन्धा-प्रयाण कर स्थगित नेक भी।
घोड़े पर सवार वह शिविका साथ व्यग्र सी—
पश्चिम को जा रही सिन्धु की गति उदग्र सी।

थी निकल चुकी दस कोस वह;
निर्गत, हो निज कोट से,
प्रति पल होता यह भान था;
बच आये रिपु चोट से!

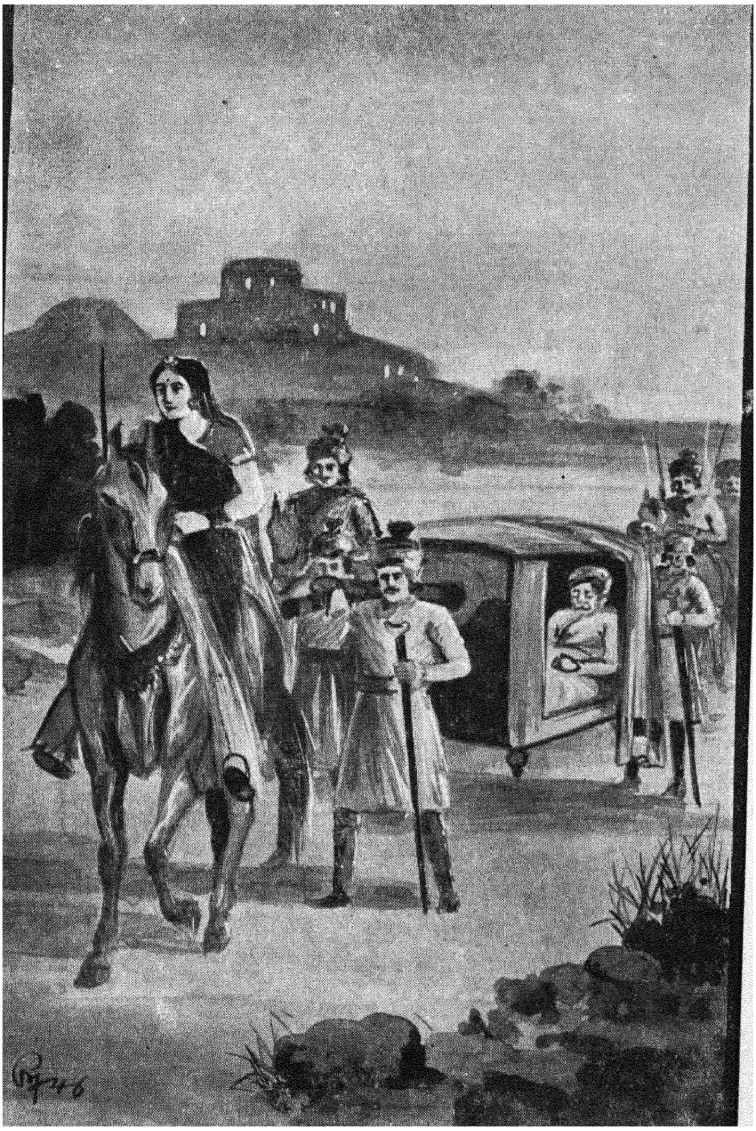

'पड़े हुए थे शिविका में नृप संज्ञा खोये'

स्वतन्त्रता-संग्राम अथक जीवन भर करते—
अपने प्यारे देश के लिये लड़ते-मरते—
लेते क्षणिक विराम, उसी से और उभरते—
नृपति आ गये थे जीवन के तट पर बढ़ते।

सम्मुख यश का पाथोधि था;
धवल हिलोरें उठ रहे,
नृप उसे थाहने के लिये—
थे प्रसन्न मन बढ़ रहे।

पड़े हुये थे शिविका में वे संज्ञा खोये,
कठिन रोग से क्षीण; हाथ पौरुष से धोये,
डूब चुके थे सभी पसीने में कहार भी;
'कुछ विराम लें' था न उन्हें इसका विचार भी।

पीछे से पाँच सवार भी—
चपल तुरंगों पर चढ़े—
थे चले आ रहे वेग से—
साथ पालकी के बढ़े।

बेचारों का बुरा हाल था, प्यासे सब थे,
सिर पर ऐसे कुदिन पड़े किसके बेढब थे?
रसना थी रस हीन हो गई, तालू सूखा,
चुल्लू भर जल बिना, बना था जीवन रूखा।

थीं सबकी आँखें चतुर्दिक—
दौड़ रहीं आशा भरीं,
मिल जाय कुये के पास ही—
कहीं विटप छाया हरी।

इसी समय सहसा सारन्धा की दृग् रेखा—
मुड़ी पूर्व में, क्षितिज तीर, उसने यह देखा—
भीम वेग से एक सैनिकों का दल भारी—
आँधी जैसा चला आरहा आयुध धारी।

तब किसी अमंगल भाव ने—
उसमें कम्पन भर दिया,
'रिपुओं ने हम पीड़ितों पर—
पुनः आक्रमण कर दिया।'

फिर सोचा, शायद कुमार ही हों न हमारे,
आते सदल सहायतार्थ हों घोड़े मारे।
आशे! हा तू कितनी ही निष्ठुर बन जाये!
फिर भी रहता लोक तुझी में प्राण-समाये।

अब भय-आशा की विषमता—
विषम ताप देने लगी,
पर स्वप्न देर तक भी न यह—
रहा, शीघ्र ही वह जगी।

देखा उसने निकट आ गये अश्वारोही,
'यह तो नहीं कुमार, हाय हैं नृप के द्रोही!'
काँपने लगा अंग उसका थर-थर चल-दल सा,
भय से था मच गया हृदय में उथल पुथल सा।

था किसी भाँति उसने किया,
अपने को स्व-वशीकृता,
फिर हुई तूर्ण वीरांगना, वह—
यों अनुशासन - रता।

डोली को लो रोक, बढ़ो मत आगे वीरो!
प्यास बुझालो अपनी इन रिपुओं को चीरो।
ठहरो, अपनी तलवारों को रक्त पिलालो,
मरो और यश बुन्देलों का अमर बनालो।

वे थोड़े भी क्षण बहुत हैं;
जिनका उचित प्रयोग हो,
छोड़ो न मरण पर्यन्त भी—
सुलभ अगर शुभ-योग हो।

तुम प्यासों के लिए रुधिर अपना ये लाये,
तुम भूखे', पाथेय तुम्हें रुचि-कर ये लाये।
इनका यह सत्कार न ठुकराओ, रुक जाओ,
ठहरो, इनके लोहों पर लोहा टकराओ!"

यह सुन कर उसकी भारती,
बुन्देले उन्मद हुये,
झट खींच खड्ग समरार्थ सब—
रौद्र-रंग में रंग गये।

तन से थे नृप जीर्ण, न थे वे दुर्बल मन से,
शत्रु खड्ग की झंकृत ध्वनियाँ कैसे सुनते?
शोच्य निरी थी दशा किन्तु जैसे सुप्तानल
वायु-प्रगति-संसर्ग प्राप्त कर, उठता है जल।

भूपति के जर्जर जरागत—
शिथिल गात में स्फूर्ति सी,
त्यों चमक उठी वीरात्मा—
आदि शक्ति की पूर्ति सी।

शिविका-पट से झट निकले वे फिर कमान को—
हाथों में ले लिया, जोड़ने लगे बाण को।
पर वह धन्वा जो कि हाथ में उनके पड़कर—
बन जाता था वज्र शक्र का, झुका न अणु भर।

सिर चकराया, तम का पटल—
आँखों में सहसा छा गया,
एक कम्प के साथ ही—
तन झुका, भूमि पर आ गया।

लख कर अपनी ओर भुजग को आता, डरता—
बे पर का खग, यथा उचकता फिर गिर पड़ता।
वैसे ही नृप पुनः सम्हल कर उठे, तदपि वे—
फिर गिर पड़े, न पैरों पर रह सके खड़े वे।

यह देख भूप की दुर्दशा;
तब रानी रोने लगी,
अरमानों के नीर से—
वह मनस्ताप धोने लगी।

फिर दुखिया ने किसी तरह झल अंचल-पट को—
होश कराया, और सम्हाला मूर्छित पति को,
कुछ कहती, पर नारी का मन ही तो ठहरा!
भर आया, रह सका न इतना सह कर गहरा।

'हा प्राणनाथ!' कह, फिर न वह—
शब्द एक भी कह सकी,
थी जाने वह जकी सी—
या वाणी ही उसकी थकी।

उधर हो रहा था वीरों में भीषण संगर,
पाँच थे तो क्या, मचा रहे थे काट भयंकर।
बढ़ना था हो गया शत्रु को डग भर मुश्किल
पड़ी कहाँ थी उनको ऐसी दाँता किलकिल ?

वे लड़े बहुत थे, पर न थे—
ऐसे लोहे से लड़े,
पाँच जनों के करों में
खेल रहे थे वे पड़े।

अम्बर में शम्पाओं का आवर्तन नर्तन !
प्रत्याघातों का ढालों पर लेना अनुक्षण !
वार बचाना, काट पैंतरे वार तोलना !
शत्रु-शिरों पर रक्त-स्रोत के रन्ध्र खोलना !

नृप को असीम प्रिय था बना;
समर आज के ढंग का,
अपने सुभटों के शौर्य का—
कौतुक देख उमंग का।

किन्तु देर तक 'उनका यह प्रिय' भी न रह सका,
देखा अपना वीर गिरा जब निहत-सा थका,
उनकी आशाओं की साँसें एक-एक कर—
वीरों के ही साथ लगीं जाने रुक-रुक कर।

तब तो हो उठे अधीर वे,
बोले "सारन् ! एक वह—
लो, और वीर अपना गिरा !
होता है क्या दैव यह ?"

जिस विपत्ति से था जीवन भर डरता आया,
उसने अन्तिम समय—आज, आ मुझे दबाया।
मेरी आँखें देखेंगी जब शत्रु-अभागे—
अंग तुम्हारे पर कर डालेंगे भय त्यागे।

मैं वृद्ध हाय निज जगह से—
सकूँ गा न हिल डोल भी,
सब देखूँ गा निरुपाय रे!
पर न सकूँ गा बोल भी।

ह हा! मृत्यु तू कब आये गी मुझे बचाने!
भव की बाधाओं से मेरा कण्ठ छुड़ाने!
किंतु भला तू क्यों आयेगी, मैं ही आया।"
कह कर नृप ने हाथ खड्ग की ओर बढ़ाया।

पर उन हाथों में दम न था;
तब बोले निज प्रिया से—
"है कई बार तुमने शुभे!
आन बचाई क्रिया से!"

यह सुनते ही रानी का मुरझाया आनन—
गौरव से खिल उठा, पुलक आया कोमल मन।
उसके सूखे नेत्र, वदन की गहरी लाली,
कहती थी प्रत्यक्ष कि 'प्रस्तुत है हृदयाली।'

उसने नृपाल की ओर तब—
देखा, फिर कहने लगी,
'नव बल-आशा-विश्वास की
त्रय-वेणी बहने लगी।'

"स्वामिन् ! अब भी धैर्य-युक्त यह अबला दासी;
स्व-व्रत निभाने को कठोर तम बनी उपासी।
प्रभु ने चाहा तो मरते क्षण तक यह अविचल—
आन निभाये गी अपनी निश्चय ही अविकल।"

उसने जाना अनुमान से,
प्रियतम का संकेत है—
'मैं प्राणाहुति दे दूँ, यही—
मूक नृपति - निर्देश है।

करुण-भाव भर फिर नृप बोले "मेरी प्यारी !
कभी न टाली तुमने अब तक बात हमारी।"
"नाथ ! मरण पर्यन्त न टालूँगी मैं अब भी,
मर जाऊँगी बात निभाऊँगी मैं तब भी।"

सुन कर रानी के ये वचन;
नृप बोले "हाँ मानना,
ठुकराना मत इसे, है—
यह अन्तिम मेरी याचना।"

प्रत्युत्तर में सारन्धा ने प्रखर करौली—
खींच वक्ष पर अपने उसने निर्भय तौली।
फिर बोली "यह प्रिय का ही आदेश नहीं है,
मेरी आत्मा का भी तो निर्देश यही है।

है यह नैसर्गिक कामना—
इस दासी के चाव की,
मर कर भी यह भूखी रहे—
प्रिय-पदाब्ज के भाव की।"

नहीं, शुभे ! यह भाव नहीं है मेरे मन का,
छोड़ रही हो मोह आज तुम मेरे तन का,
पहने हुये बेड़ियाँ 'रिपु की रंग-रलियों' में—
अपमानित मैं फिरूं आगरा की गलियों में ?

क्या इसी लिये रिपु-करों में—
मुझे अनाश्रय छोड़ कर,
तुम जाओगी इस दुःख में
मुझ से नाता तोड़ कर ।"

रानी ने जिज्ञासु-दृष्टि से पति को देखा—
मिली न उसको किन्तु वहाँ पर कोई रेखा,
तब बोली "हे जयी ! न काँटों बीच घसीटें,
दासी को हा वचन-वेत्र से यों मत पीटें ।"

वह नृप की अन्तर्भावना—
समझ न पाई थी अभी,
वंचक-बातें यों भूप से—
सुनी न थीं उसने कभी ।

नृप बोले "ओ वरानने ! माँगूँ कुछ तुम से,
स्वीकृति का विश्वास अगर पा जाऊँ तुमसे ।
बड़ी बड़ी आशाओं की ओ मेरी रानी !
मुझ प्यासे को पिला सकोगी क्या यह पानी ?

है केवल अन्तिम प्रार्थना !
लो श्रेय प्राप्त कर पूर्ति का ।
दो मूल्य बढ़ा संसार में—
मर्यादा की मूर्ति का ।"

रानी कहने लगी कि "अनुशासन भी पाऊँ,
फिर देखें प्रिय, उसे पाल कर अभी दिखाऊँ।"
"देखो सारन! वचन दिया है बदल न जाना।"
नृप ने कहा "प्रिये! समुचित है बात निभाना।"

रानी ने कम्पित हो कहा—
"प्रियतम! अब आदेश दो।"
"प्रिय! तुम अपनी तलवार से—
वक्ष हमारा छेद दो।"

यथा मौलि पर पड़े हथौड़ा तीव्र चुटीला,
त्यों ही उसके लिये हुई नृप-गिरा अशीला।
बोली "कैसे होगा मुझ से? कान्त! बताओ?
हाय, बचाओ, मुझ अबला को यों न सताओ।

मैं नारी हूँ, निरुपाय हूँ
आप जयी-कुल-पाल हैं,
फिर कैसे मुझ अनुचरी को
रहे नरक में डाल हैं।"

खा कर निष्ठुर चोट निकल कर दुखिया मन के—
करुणा को भी लगे रुलाने आँसू उसके।
उधर भूप ने देखा, धरती पर आ खेला—
अन्तिम और पाँचवाँ भी वह सु-भट बुँदेला।

तब तो अधीर वे हो गये
झुंझला कर बोले कि "हा,
हत, इसी वीर पर गर्व था—
आन निभाने का रहा।"

निरवरोध औरंगज़ेब के अब उत्साही—
हुये नृपति की ओर अग्रसर जयी सिपाही।
तब नृप ने नैराश्य पूर्ण याचक भावों से—
देखा स्वजनी ओर सुकरुणार्द्रित भावों से।

"हा यह शरीर अब सहेगा—
रिपु-कारा के क्लेश ही—
कौन सुने गा वहाँ से—
मुझ बन्दी के सन्देश ही !!"

रानी का निष्कर्ष न अब तक हो पाया था,
खड़ी हुई थी, उस पर भीषण भय छाया था।
पर विपत्ति के आने पर है प्रायः देखा—
हो जाती है अतिशय गहरी निश्चय-रेखा।

उसने नृपाल की ओर तब—
देखा, पर चुप रह गई,
नीरव भाषा में हृदय की—
क्या जानें वह कह गई।

अब वह क्षण था निकट कि जब उन नर-पुंगव को—
हाथ बढ़ा अरि धर पकड़े उन गुरु-गौरव को,
और प्रथम इसके कि करे वह कुछ शैतानी—
कौंध उठी सौदामिनि सी सारन्धा रानी।

उसने अपना खर खड्ग झट;
भोंक भूप-उर में दिया;
यों प्रियतम का अप्रिय हतन—
पल में उसने कर दिया।

गौरवमय बलिदान

'उसने अपना खर-खड्ग झट, झोंक भूप उर में दिया।'

जिसका जर्जर गात अस्थि - चर्मावशिष्ट था
ज्वर का दारुण दाह दे रहा जिसे कष्ट था,
रूक्ष वदन को करुण-नेत्र जिसके धोते थे,
और विवशता पर जिसके आँसू रोते थे;

हा उसी भूप के वक्ष पर—
यह निष्ठुर असि-पात था;
अपनी रानी का हाथ था!
और क्रूर आघात था!!

नर-नारी की प्रीति रीति में निर्मम विप्लव—
हुआ कहाँ कब ऐसा किससे अब तक संभव?
भूप हृदय से निकल रही थी शोणित धारा,
खेल हो गया था जीवन का पूरा सारा

उनके चेहरे पर शान्ति थी,
थी विषाद-रेखा नहीं।
ऐसा भीषण उत्सर्ग भी—
भला गया देखा कहीं।

वह नारी, जो अपने पति पर ही मरती थी—
अपनी मधुरी मनुहारें जिससे भरती थी—
वह नारी, जिसने कि हृदय से हृदय लगा कर—
लूटा था यौवनानन्द जिससे सुख पा कर—

हा, आज न जाने किस तरह—
अपनी तीक्ष्ण कृपाण से,
यों छेद रही उस स्व-पति को—
गौरव से, अभिमान से।

जिस पर करती रहीं लास्य शीं अभिलाषाय,
जिस पर छाई रहीं अमिति उसकी आशायें,
जो उसके आत्माभिमान का केन्द्र बना था,
जिस पर उसके सुख सुहाग का शिविरतना था—

उस रानी ने अब खड्ग से—
उसी हृदय का वध किया!
किस नारी की तलवार ने—
है ऐसा जौहर किया?

जग की कोई सती प्रियतमा अपने प्रिय पर—
कर सकती है असि-प्रहार भी निष्ठुर हो कर!
नहीं कल्पना में आता, सिर चकराता है,
सती और पति-हन्त्रि का भला क्या नाता है?

फिर भी, इस कटु आश्चर्य से—
आज धरा संत्रस्त थी,
सती प्रिया-कृत नृपति की—
हा, जीवन-लीला अस्त थी!

आह गर्व का यह विषाद से भरा अन्त था!
पिंजर खाली पड़ा पक्षि उड़ गया हन्त, था!
था सिपाहियों को मन्त्रों ने मानों कीला,
जान पड़ी यह उन्हें अलौकिक अद्भुत लीला।

वे रानी के इस शौर्य से,
साहस से, गुरु-धैर्य से;
सब मन्त्र मुग्ध-से दंग थे।
उसके इस सु-स्थैर्य से।

रानी सम्मुख जा कर उनका शीश झुक गया,
उद्धत दुर्दमनीय वेग भी अहो रुक गया,
सभी बन गये उस देवी के प्रणत-पुजारी,
द्वेष-भाव-मूलक विचार से गत, अविकारी।

उसके प्रभाव की लहर में—
दल नायक बहने लगा,
गद्‌गद् होकर इस भाँति वह—
रानी से कहने लगा।

"उफ़ ! हिन्दू औरतें क्या न क्या कर सकती हैं !
मर सकती हैं और आग में जल सकती हैं।
दुनिया के रूबरू सदाक़त उनकी अपनी !!
जुरअ़त किसकी पेश मिसाल करे जो अपनी ?

अफ़सोस हमारा दीन पर—
हुआ न कुछ आराम दह !
देगा कैसे मख़लूक़ को—
राहत का पैग़ाम यह ?

दीन हमारे ने अब तक कितने घर खोये !
तलवारों के बल पर कितने वंश डुबोये !
कितने ही गाँवों क़सबों शहरों की प्यारी—
हस्ती ही तबाह कर डाली जड़ से सारी !

पर सच तो यह है उन्हें इस—
दुनिया में अभिमान से,
रहने को ज़िन्दा कर दिया—
एक अनोखी शान से।

मारवाड़ की और उदयपुर की तारीख़ें—
और दूसरी कितनी ही क़ौमी तारीख़ें—
मैंने देखीं, मगर न था अब तक वह देखा—
जिसको मैंने यहाँ आज आँखों है देखा !

लिल्लाह ! ग़ज़ब का फ़ख़ है—
हासिल हिन्दोस्तान को,
उसकी इस शान गुमान को—
आन-बान अभिमान को।

पहचाना हिन्दू-ज़मीर मैंने पहचाना ?
और आज के जौहर से, जौहर को जाना !
इस क़ुर्बानी ने दामन गह लिया फ़लक का !
शर्मसार हो गया आज शैतान ख़लक़ का !

मैं नादिम हूँ; पर मुझे इस—
क़ुर्बानी पर नाज़ है,
ये, मिल्लत की,—क़ुर्बानियाँ—
बेदारी का राज़ हैं !!

भुला दीजिये अब, कि आप का मैं दुश्मन हूँ,
दुश्मन था; पर रानी जी ! अब 'उजला मन' हूँ।
इस क़ुर्बानी पर मेरा 'इंसान' जग गया !
मुझ में मेरा अल्ला-हो-भगवान जग गया !!

है रानी जी, शाहिद ख़ुदा;
मैं ग़ुलाम हूँ आप का,
इरशाद करें, लाये बजा,
बन्दा हाज़िर आप का।''

दलपति के कोमल उद्गार—
समुचित अर्पित शिष्टाचार—
और देख सौजन्य उदार—
रानी बोली "ओ सरदार !

एक वीर के लिये—
जो उचित सदा से रहा;
धन्य वीर ! वही आज—
सुनती हूँ मैं यहाँ।
मेरी एक कामना है—
शेष, सविशेष यह—
मेरे सुतों में से यदि—
कोई बचा हो वहाँ—
तो ये दोनों लाशें उसे—
सौंप देना वीर जयी !"
कहा, और वही खड्ग—
भोंका अपने भी जहाँ—
वहीं वह होगई अचेत !
शीश देखा गया—
भूपति के वक्ष पर—
हँसता-सा था अहा !!

वातावरण परिशान्त !!!
अकुला उठे चर-अचर के मन प्राण पर,
था पन्थ इतिवृत्तान्त;—
जब; हिली शाखा से गिरे कुछ सुमन झर।

करती थी जो वीराग्रज का पथ निर्देशन,
करती थी जो प्राण-सखा का मोह-विमोचन,
जिसने दारा-विजय-दर्प डँस डाला जा कर,
जिसने वली बहादुर खाँ ललकारा जा कर,

इस विजन वन्य पथ में; अहो,
उसका यह अवसान है!
इस गौरव पर किसका नहीं—
जग उठता अभिमान है?

थी गौरव-गिरि-शिखा पड़ी क्षोणी के ऊपर,
दो अरुणोष्ण-उत्स झरते थे करुणा भर-भर,
धरा लाल! हंस उठा स्वर्ग का पुण्य गर्व से!!
भारत भी उद्ग्रीव हो उठा!!! प्राप्त पर्व से।

अमरी बन कर वह नरी यों—
वन्द्य हो गई लोक की,
है कवि कृतार्थ, कर अर्चना—
उसके दिव्यालोक की।

गौरव तथा निज देश पर—
वित-सुत-स्वपति निज देह भी—
उत्सर्ग कर, वह, विश्व-पट-पर—
लिख गई, पढ़ लें सभी।—
'कुल-जाति और स्वदेश पर—
जिसने किया बलिदान है,
'कुल-मणि' अहो, वह 'जाति-गौरव'
'देश का अभिमान' है।

●

सारन्धा

का

शब्द-कोशः

अकल्पित=स्वाभाविक, कल्पनातीत, अखेद=प्रसन्न
अगतिवारिणी=दुर्गति दूर करने वाली। अगरा=श्रेष्ठ
अनृत=मिथ्या अनागत=भविष्य
अपराह्न=दिन का तृतीय पहर अन्तस्सुख=अन्तः+सुख
अमर्त्य=देवता अभ्राच्छादित=मेघ से ढका
अरुणोष्ण=लाल और गरम अरन्तुद=छिदते, चुभते
अर्गल=कपाट, साँकल अर्क=सूर्य
अगतिमान=पथभ्रष्ट अर्चना=पूजा
अर्हणीय=पूज्य अर्जन=संग्रह
अलिन्द=घर के बाहरी द्वार का चौतरा अलका=इन्द्रपुरी
अवरोह = उतार, गिराव
असित=काली अशिव=अमंगल
आद्याश्रम=ब्रह्मचर्य अहरह=दिन-दिन
आ-भू-नभ=पृथ्वी से आकाश तक आपगा=नदी
आरसी=दर्पण आभ्यजात्य=उच्चकुलोद्भवता
ईप्स्य=वाँछित, चाहा हुआ आर्या=श्रेष्ठ नारी
उज्झित=छोड़ा हुआ, त्यक्त ईषत्=कुछ
उत्तान=उताना, खड़े से पीठ भर गिरना उत्स = झरना
उत्संग = गोद, क्रोड़
उद्ग्रीव=ऊंची गर्दन उदग्र=विशाल, दीर्घ
उन्मन=अनमना, उदास उदात्त=सुन्दर, प्रिय
उपक्रम=कार्य का आरंभ उपकरण=सामग्री
उपादान=कार्य का मूल कारण उपलभ्य=प्राप्य
उल्का=टूटता तारा उर्वी=पृथ्वी
ऋणशोधन=कर्ज वसूलना ऊर्मित=तरंगित
कंजादपि = कमल से भी ऋत = सत्य
कक्ष-कमरा

कदम्ब = समूह
करी-कुम्भ = गज-मस्तक का मध्य
कुड्मल = कलिका
क्रान्त = आक्रमणकारी
क्रीड़ा पुत्तलिका=खेलने की पुतली (गुड़िया)
क्रीत=ज़र ख़रीद
क्षान्त = सहिष्णु
क्षाम=कृश,दुबला
गन्धवाह=पवन
गवादिक=गो इत्यादि
गुणाद्रि=गुण+अद्रि=पर्वत
ग्राम=समूह
चलदल=पीपल पत्र
छाज कर=शोभित होकर, विराज कर
जबीं=माथा, पेशानी
झंझावर्तन=सवृष्टि तीव्र आँधी के चक्कर
तन्वि=नारी
तमिस्रा, तमी } =अँधेरी रात
तुहिन=पाला, तुषार
तूर्य=तुरही
दान्त=इंद्रिय जित
दोषा=रात
द्विज=पक्षी
धात्री=माता, दूध पिलाने वाली
नभस्सर = आकास-सरोवर
नवनीत=मक्खन
नादिर = अनुपम
कराधार=हाथ का सहारा।
किन्निया = अज़मत, महानता
केत, केतु } =ध्वज
क्वचित=कोई ही
क्षम=समर्थ
क्षान्ति=क्षमा, तितिक्षा
क्षोणी=पृथ्वी
गरीयसी=महत्व शालिनी
गाजी=वीर, जो इस्लाम के लिये प्राण दे।
चिबुक=ठोढ़ी
छदन=आवरण
जिष्णु=इन्द्र
जुगुप्सा=निन्दा
ज्योज्झित=प्रत्यंचा से छोड़ा हुआ
तद्धृद्गत=तत्+हृत्+गत उसके मन के
तबर = ढाल
तल्प=पलंग, शैया
तादात्म्य=तत्स्वरूपता
तुराषाट्=बाढ़
तूर्ण=शीघ्र
त्वेष=क्रोध
दृगम्बु = आँसू
दृत-धी=तीक्ष्ण बुद्धि वाला
द्विधा=असमंजस, द्विविधा
धाता = रचयिता
नलिनी = कमलनी
नाति=कम-स्वल्प
निक्षिप्त=फेंका हुआ

नियति=भाग्य,
निर्वेद=दुःख, अपमान
निष्कृति=छुटकारा, निकलना,
प्रस्फुटन
नृ=मानव
पण्य = सौदा
परुष = कठोर
पवमान=वायु
पाम=खाज
पुखराज=पीले वर्ण का रत्न
पूय=पीब
पौर जनों = नगर वासियों
प्रकीर्ण=बहु प्रकार
प्रतिगामी=विरोधी
प्रतीक=चिह्न
प्रत्यूह=बाधा
पर्यवसान=समाप्ति
प्रद्वेषण=द्वेष
बगरा = फैला
बे नकाब=स्पष्ट, बे परदा
भरम=भ्रम
भावि=भविष्य का, दैव का
भ्राज = शोभायमान
मदाद्रि=अहंकार का पर्वत
महार्ह=सुप्रशंस्य
माल्य=माला
मेचक=काला, निन्द्य
मृत्यु-विवर = मौत का गड्ढा
यतः=चूँकि
रदन-छदन = दाँतों के ढक्कन, होंठ
रब=खुदा
निर्गम=जाना, गमन
निश्रेयस = मोक्ष, दुःख का अभाव
नैश = रात की
न्यस्त=छोड़ा हुआ, त्यक्त
परिरम्भण=आलिंगन, गले से
लगना
पाथेय=मार्ग का भोजन
पाशुपत=शिव की
पुलिन=तट
पेश्यस्थि=पेशी और हड्डी।
प्रकाम=बहुत
प्रणत=भक्त, बहुत झुका हुआ
प्रतिपन्न=परिपूर्ण, निश्चित
प्रतोद=चाबुक, कोड़ा
पर्यय=किसी नियम का उल्लंघन
पर्व=उत्सव
प्राप्त-विसर्जन=प्राप्त का त्याग
बा आबताब=प्रकाशमान
बोधी=उद्बुद्ध, बोध-प्राप्त
भांड = पात्र, वर्तन
भित्ति-मुकुर=दीवाल पर लगा दर्पण
भुवि=पृथ्वी
मन्द्र=प्रसन्न, सुन्दर
मसृण=चिकना, कोमल
मार्दव=कोमलता
मूर्छना=आरोह से अवरोह के क्रम
पर जाना
मौलि = शिर
यष्टि=छड़ी
रन्ध्र=छेद
रसना=जिह्वा

रसा=पृथ्वी
रसाद्रि=रस का पर्वत
राजस्व=राजकीय कर
राहित्य = वियोग-भाव
रोधी=आड़े आने वाला
लास = नृत्य-विशेष
लोकैषणा=सांसारिक इच्छा
लोहित = रक्ताक्त
वज्रादपि = वज्र से भी
वन्या = वन की
वरुणालय=समुद्र
वर्चस्व=तेज
वर्तुल = गोला
वाग्वीर=संलाप-कुशल, चतुर वक्ता
वाट=मार्ग
वातायन=झरोखा
वार्धव=बुढ़ापा
वासव = इन्द्र
विकच=सुन्दर, निर्लोम
वितुंड=हाथी
विन्यास=ठीक स्थान पर रखन सजाना
विपर्यय=उलट फेर, व्यतिक्रम, भ्रम
वियोगादित्य=विरह का सूर्य
विभ्राट=संकट, विपत्ति
विश्रुति=विख्यात, प्रसिद्ध
विवर्तन=घूमना, फिरना
वीरुध=क्षुप, छोटे वृक्ष
वीथियों=गलियों
वृषार्क=वृष+अर्क, ज्येष्ठ मास सूर्य
वृन्त=डंठल, पुष्प का आधार अंग
वेणियाँ = चोटियाँ
वैजयन्त=इन्द्र पुरी
वेत्र=बेत
व्यजन = पंखा
व्यवधान=बाधा, बीच में रोक
व्यष्टि=समष्टि का एक अंग, इकाई
व्यामोह = अज्ञान
व्रजन=घूमना, विचरण करना
शंकु = कीली
शंसा = श्लाघा, प्रशंसा
शफरी = मछली
शम्पा=बिजली
शयित=सोया हुआ
शरण्य=शरण देने वाला
शहीद=वीरता की मृत्यु वरण कर वाला
शायी = सोने वाला
शाहिद = साक्षी, गवाह
शिविका=पालकी, पीनस
शुक्रिया=धन्यवाद
शुक्ति = सीपी
श्मश्रु = दाढ़ी
श्लथ = ढीला, शिथिल
श्लेष=मेल, योग
संकुल = परिपूर्ण, समूह
संसृति = संसार
सच्छिक्षा=(सत्+शिक्षा) नेक सलाह
सपत्नी=सौत
सपदि = शीघ्र

सपत्नों=शत्रुओं
सद्य=टटका
समवेत=एकत्र
समादृत=भली भांति आदरित
सरीसृप = रेंगने वाले प्राणी
सिजदा = पृथ्वी पर माथा टेक कर प्रणाम करना प्रभु को
सुधी=विद्वान, बुद्धिमान
स्तव=स्तुति, प्रशंसा
स्मय = गर्व
स्वामिष=अपना मांस
स्वेव = अपने समान
स्वेष्टि=अपनी अभिलाषा
हतोस्मि=मैं मरी।
हुताशन=अग्नि
हृत=छीनी गई, अपहरित

सदाकत = सत्यता, पवित्रता
सम्भव=उत्पन्न, होना.
समष्टि=व्यष्टियों का समूह
समाधान=निराकरण, हल
सारती = पूरा करती
सिन्धुर=हाथी
सुतनु=सुन्दरी
स्तन्य=दूध
स्तूप=ऊ चा ढूह वा ढेर
स्वन = शब्द, आवाज
स्वायत्त=वह जिस पर अपना अधिकार हो
स्व-भा = अपनी शोभा
हर्म्य=भवन, महल

हृत्स्पर्शनकारी=हृदय को छूने वाली

कुछ कड़वी अशुद्धियाँ

:

उनका शुद्धि पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धि	शुद्ध
२२	१५	जगाकर कर	जगा कर
२५	१२	हिन्दुस्तान	हिन्दुस्थान
२७	१२	क्या सहती	क्या आज सहती
१७	२२	हुँकार	हुंकार
४४	५	खोनेदेड़ता	ने, तो खदेड़ा
४८	८	संसार	सार
५३	६	हे	×
५७	२०	देख !!	देख !!"
६०	२२	हैं	है
६६	१३	कर हम	कर भी हम
६८	२४	रवेव	स्वेव
७४	२०	गभै	गर्भ
८६	२	हुँकार	हुंकार
६०	२२	वह्	×
६४	१४	थे	×
६४	२३	सब पक्ष	स्व-पक्ष
१०२	१६	आज को	आज की
११४	११	कर बिजली की रेखायें दीं	बिजली की रेखायें करदीं
११४	२१	दिया दिया	दिया
११५	१	त्याग ने	त्यागने
१२०	१२	चंगेज हलाकू की	तैमूरलंग की भी
१२१	१५	एर	पर
१२२	६	खो	धो
१२२	२१	नृप सब छोड़ दिया ने	सब छोड़ दिया नृप ने
१२३	७	हुमाहूँ	हुमायूँ
१२३	१६	चूस सब लिया	सब चूस लिया
१३६	२३	हाय	हा